भूमिका

करणानुयोगका एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ती जीवराज ग्रन्थमालासे दो भागोंमें (१९४३, १९५१) प्रकाशित हुआ था। सम्पादकों और अनुवादकने ग्रंथके गणित भागको सम्हालनेका अपनी शक्तिभर प्रयास किया था। किन्तु उन्हें इस विषयमें अपनी सीमाका भान था। अतएव उसके गणित भागका समुचित रीतिसे किसी गणितके अधिकारी विद्वान् द्वारा अध्ययन करानेकी सम्पादकोंको इच्छा हुई। सौभाग्यसे उन्हें ऐसी योग्यता गणितके नवयुवक प्रोफेसर श्री. लक्ष्मीचन्द्र जैन, एम्. एस्सी. में दिखाई दी। उन्हे इस विषयमें स्वयं भी रुचि उत्पन्न हुई। अतः उन्होंने उक्त तिलोयपण्णत्तीके गणित भागका अध्ययन कर मुद्रित १०४ पृष्ठोंका यह लेख लिखा है जो जंबूदीवपण्णत्तीकी प्रस्तावनामें प्रकाशित है। जैन ग्रंथोंमें प्रयुक्त विशेष संकेतों व चित्रों सहित गणितकी नाना प्रक्रियाओंके अतिरिक्त उन्होंने जो यूनानी, चीनी आदि लेखोंके साथ इनकी तुलना की है (देखिये गणित लेख पृ. १०, १३ आदि) वह बड़ी महत्त्वपूर्ण है। वर्तमानमें यह कह सकना तो कठिन है कि इस ज्ञानका प्राचीन कालमें क्या कोई आदान प्रदान हुआ था, और कौनने किसे कितना दिया व कितना लिया था। किन्तु यह विषय आगे अनुसन्धान करने योग्य है। इस दिशामें प्रोफेसर लक्ष्मीचन्द्रजी प्रयत्नशील भी हैं।

सोलापूर
५-१-५८

सम्पादक,
ही. ला. जैन
आ. ने. उपाध्ये

— प्रकाशक —
गुलाबचंद हिराचंद दोशी
अध्यक्ष,
जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर

— मुद्रक —
ज्योतिषप्रकाश प्रेस
विश्वेश्वर गंज, वाराणसी

तिलोय-पण्णत्तिका गणित

परम्परा के आधार पर त्रिकालवर्ती विश्व-रचना का सार रूप से परिचय कराने वाला यह (तिलोय पण्णत्ति नामक) ग्रंथ मुख्यतः गणित ग्रंथ नहीं है। सूत्रबद्ध प्ररूपणा में केवल फलों का वर्णन तथा कहीं कहीं उपयोग में लाये गये सूत्रों का वर्णन रहता है। इस ग्रंथ में कहीं कहीं गणित की झलक होने से, गणना की शैली का कुछ वर्णन सम्भव हो सका है। ऐतिहासिक दृष्टि से, यह ग्रंथ महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। अन्य समकालीन अथवा कुछ पूर्वोत्तर ग्रंथों की तुलना में, इस ग्रंथ में कुछ ऐसे प्रकरण तथा निरूपण दिये गये हैं जिनके आधार पर तिलोय-पण्णत्ति की रचना से शताब्दियों पूर्व प्रचलित ज्ञान के विषय में आभास मिल जाता है। सबसे महत्वपूर्ण वस्तु असंख्यात विषयक संख्याओं की प्रतीकों के आधार पर प्ररूपणा है। इन प्रतीकों के आधार पर भाषा विज्ञान शास्त्री उनके उपयोग में लाये जाने वाले काल को निश्चित कर सकता है। यतिवृषभ के द्वारा कब इसकी रचना हुई, यह बात इतनी महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि इन क्रियात्मक प्रतीकों के उपयोग का रचना काल। दूसरी महत्वपूर्ण वस्तु, विविध वेत्रासन आदि आकार के क्षेत्रों का घनफल, छेदविधि निरूपण तथा वृत्त सम्बन्धी माप हैं। ज्यामिति के क्षेत्र में भारतवर्ष बहुत पीछे रहा है। परन्तु इन ज्यामिति विधियों के आधार पर मिश्र, बेबीलोन, यूनान, चीन, आदि देशों की रेखागणित से यह सम्बन्ध नहीं तो तुलनात्मक अध्ययन हो सकता है। इसके पश्चात् संख्या प्ररूपणा, श्रेणि-प्ररूपणा और अल्पबहुत्व तथा ज्योतिष सम्बन्धी सिद्धान्तों का मात्र प्रतिपादन गणितज्ञ के लिये कितने रोचक होंगे, यह निम्न लिखित विवेचन से स्पष्ट हो जावेगा।

संख्या सिद्धान्त

आधुनिक गणितज्ञ के लिये संख्या शब्द की स्पष्ट परिभाषा की आवश्यकता नहीं रहती। तिस पर भी, व्यापक रूप से सर्व प्रकारकी संख्याओं, वास्तविक और काल्पनिक, परिमेय और अपरिमेय, पूर्णांक और भिन्न आदि का निरूपण करने के लिये यह कहा जा सकता है कि संख्या केवल समान राशियों (ढेरों) की राशि है, और कुछ नहीं। गणित के इतिहास से प्रतीत होता है कि सबसे पहिले महावीराचार्य ने काल्पनिक संख्याओं को पहिचान कर उनको उपयोग में न लाने का कथन किया था। तथापि, जैसे $\frac{1}{2}$ आदमी का अर्थ आदमी की आधी ऊँचाई लेकर उसका उपयोग किया जा सकता है, उसी प्रकार काल्पनिक संख्याओं का आधुनिक-युगीन विभिन्न विद्वानों में विस्तृत और महत्वपूर्ण उपयोग हो चुका है। पायथेगोरियन युग में भी अनन्त के विषय में वार्तायें चल पड़ी थीं, परन्तु ज़ीनो के तर्कों ने बाद के गणितज्ञों को उस ओर आगे जाने में भय उत्पन्न कर दिया था। जब गेलिलियो के पश्चात् उन्नीसवीं सदी में जार्ज कैंटर ने अनन्त विषयक गणित की संरचना प्रारम्भ की, उस समय गणितज्ञों ने कहा था[1] कि यह विषय १०० वर्ष अति पूर्व लाया गया है। किन्तु भारतवर्ष मे यह विषय ईसा से कुछ शताब्दियों पूर्व प्रतिपादित हो चुका था। पुष्पदंत और भूतबलि के ग्रंथ षट्खंडागम तथा उनके पश्चात् के प्रायः सभी ग्रंथों में असंख्यात और अनन्त शब्द बिलकुल साधारण शैली में उपयोग में लाये जाते हैं, मानों ये हमसे अपरिचित ही नहीं हैं। तिलोय-पण्णत्ति में, असंख्यात और अनन्त के वास्तविक दर्शन को क्रमशः अवधिज्ञान तथा केवलज्ञानी का विषय बनाया है। वीरसेन ने अनन्त संज्ञा उस राशि को दी है, जो व्यय के होते रहने पर भी अनन्त काल में समाप्त न हो। संख्यात अथवा असंख्यात प्रमाण राशि, अनन्त

१ Fraenkel, p. 2.

में से व्यय कर दी जाने पर भी, अनन्त का प्रमाण अनन्त रहता है, अथवा उसकी अनन्त संज्ञा नष्ट नह हो सकती है। यद्यपि संख्या के २१ भेदों का उल्लेख तथा उन्हें उत्पन्न करने का पूर्ण विवरण तिलोय-पण्ण में है, तथापि उन भेदों का वास्तविक अर्थ समझना वांछनीय है। संख्यात से उत्कृष्ट संख्यात की प्राप्ति हो पर, केवल १ जोड़ने पर जघन्य परीत असंख्यात प्राप्त हो जावे, पर उस संख्या में यह असंख्यात संज्ञा उपचार रूप में दी गई है। वास्तविक असंख्यात वहाँ से प्रारम्भ होता है, जहाँ उत्कृष्ट असंख्यात की प्राप्ति के लिये, वास्तविक असंख्यात संज्ञाधारी धर्म द्रव्यादि राशियों को क्रमबद्ध गणना से प्राप्त संख्यात में जोड़ा जाता है। इसी प्रकार, उत्कृष्ट असंख्यात-असंख्यात में १ जोड़ने पर जघन्य परीत अनन्त की जो उत्पत्ति है वह अनन्त संज्ञा की धारी इसलिये है कि वह संख्या अब अवधिज्ञानी का विषय नहीं रही। इसलिये औपचारिक रूप से अनन्त शब्द द्वारा बोधित है, वास्तविक अनन्त नहीं है। अनन्त की प्राप्ति के लिये इस संख्या से क्रमबद्ध गणना के पश्चात् जो असंख्यात से ऊपर प्रमाण राशि उत्पन्न होती है, उसमें उपधारित (Postulated) अनन्त राशियां जब मिलाई जाती हैं तभी वह वास्तविक अनन्त संज्ञा की अधिकारिणी होती है। इनके आधार पर द्रव्य, क्षेत्र और काल के आधार पर कहे गये प्रमाण तथा उनका अल्पबहुत्व (Calculus of relations) मौलिक है, मनोरंजक भी है। यहाँ अल्पबहुत्व (Comparibility) के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण तथ्य संक्षेप में बतलाना आवश्यक है। वह यह कि किसी अनन्त से अपेक्षाकृत बड़ा अनन्त भी होता है। उदाहरणतः यह बात मन में साधारणतः नहीं बैठती है कि क्या अनन्त काल के एक एक करके बीतनेवाले समयों में संसारी जीव राशि कभी समाप्त नहीं होती। इस सत्य का दर्शन करने के लिये और समाधान के लिये हम पाठकों को कैंटर द्वारा प्रस्तुत दशमलव तथा एक एक संवाद पर आधारित संततता (Continuum) के गणात्मक और प्राकृत संख्याओं की राशि (१, २, ३,......) के गणात्मक का अल्पबहुत्व पठन करने के लिये आग्रह करते हैं[१]। (जिनागम प्रणीत अल्पबहुत्व एवं आधुनिक राशि सिद्धान्त के अल्पबहुत्व के तुलनात्मक अध्ययन के लिये सन्मति सन्देश, वर्ष १, अंक ४ आदि देखिए)।

संख्याओं के विभाजन का यह विषय लौकिक गणित का नहीं है, वरन् अलौकिक अथवा लोकोत्तर गणित का है, जैसा श्री अकलंक देव के तत्त्वार्थवार्तिक में उल्लेख है। यूनान में भी, पायथेगोरियन युग में मथीमतिकी (μαθηματικη) शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसके विभिन्न अर्थ लगाये जाते हैं, तथापि यह निश्चित है कि लोगिस्तिकी (λογιστικη)—गणना कला तथा अर्थमितिकी (αριθμητικη)—संख्या सिद्धान्त, ग्रीक गणित में मूलभूत था[२]। प्लेटो ने कहा है—"But the art of calculation (λογιστικη) is only preparatory to the true science; those who are to govern the city are to get a grasp of λογιστικη, not in the popular sense with a view to use in trade, but only for the purpose of knowledge, until they are able to contemplate the nature of number in itself by thought alone.[३]"

ज्यामिति अवधारणायें

ति. प. मे प्रथम महाधिकार की गाथा ९१ से लेकर १३५ वीं गाथा तक, ज्यामिति अवधारणाओं को इस शैली से रखा गया है कि ये ४४ वाक्य अथवा सूत्र जैन सिद्धान्त शास्त्री के लिये इतने सुपरिचित प्रतीत होंगे कि उनका महत्व दृष्टिगोचर नहीं होगा। जैन सिद्धान्तो को न जाननेवाले के लिये ये इतने अपरिचित सिद्ध होंगे कि उन्हें भी ये महत्व-विहीन प्रतीत होंगे। इनसे परिचित कराने में तो

१ Fraenkel, p. 64, २ Heath, vol. i, pp. 12 to 14. ३ Heath, vol. i. p. 13

एक ग्रंथ बनाना पड़ेगा, तथापि, यहां बहुत ही संक्षेप में सार रूप वर्णन ही झलक मात्र देने के लिये पर्याप्त होगा। अभेद्य पुद्गल परमाणु जितना आकाश व्याप्त करता है, उतने आकाशप्रमाण को प्रदेश कहा गया है। अमूर्त आकाश में इसके पश्चात् भेद की कल्पना का त्याग होना प्रतीत होता है, तथा मूर्त द्रव्य में ही भेद अथवा छेद की कल्पना के आधार पर मुख्य रूप से आकाश में प्रदेशों की कल्पना की गई है, जो अनुश्रेणिबद्ध हैं। आकाश जहां कथंचित् अखंड (Continuous) है, वहां कथंचित् प्रदेशवान भी है। इस प्रदेश (खंड, Point) के आधार पर, संख्याओं का निरूपण करने के लिये उपमा-मान भी स्थापित किये गये हैं। पल्योपम और सागरोपम उपमा प्रमाण समय की परिभाषा के आधार पर स्थापित किये गये हैं। चौथे महाधिकार में गाथा २८४, २८५ में समय का स्पष्टीकरण किया गया है। सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, जगश्रेणी, रज्जु आदि केवल एक महत्ता की सूचक नहीं हैं, वरन् जहां संख्या मान का प्ररूपण होता है, वहां इनका अर्थ, इन लम्बाइयों में स्थित प्रदेश बिन्दुओं की गणात्मक संख्या है। एक स्कंध में अनन्त परमाणुओं के होने का अर्थ, संख्या प्ररूपणा के आधार पर, एक स्कंध (उवसन्नासन्न) की लम्बाई में स्थित प्रदेश बिन्दुओं की संख्या अनन्त नहीं है, वरन् कुछ और ही है। एक आवलिमें समयोंकी संख्या जघन्य युक्तासंख्यात होती है। इस प्रकार कथन कर, संख्या मान के लिये उपमा से काल प्रमाण और आयाम प्रमाण में सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

$$(\text{अं})^{\log_2(\text{अ})} = (\text{प})$$

जहां अं, सूच्यंगुलके प्रदेशोंकी गणात्मक संख्या है, प पल्योपम काल में स्थित समयोंकी संख्या है तथा अ, अद्धापल्य काल राशि (कुलक) में स्थित समयों की संख्या है। ऐसे प्रदेश की अवधारणा के आधार पर धर्मादि द्रव्यों में संख्या स्थापित कर, तथा शक्ति के अविभागी अंश के आधार पर केवलज्ञान आदि अनन्त राशियों की स्थापना कर, उनके सूक्ष्म विवेचनों को संख्या मान अथवा द्रव्यप्रमाण का विषय बनाया गया है।

आधुनिक गणितज्ञ बिन्दुकी परिभाषाकी भी उपेक्षा करता है और बिन्दु कहलाई जानेवाली वस्तुओं की राशि से समारम्भ करता है। ऐसी अपरिभाषित वस्तुएँ एक उपराशि या उपकुलक (Subset) की रचना करती हैं जो सरल रेखा कहलाती है, इत्यादि। ऐसे अपरिभाष्य बिन्दु को लेकर, बोलज़ेनोंके साध्य के आधार पर, जार्ज केन्टर ने अनन्त विषयक गणित की संरचना की, जिसे अमूर्त राशि सिद्धान्त (Abstract set theory) कहा जाता है। जार्ज केन्टर ने, परिमित और पारपरिमित (Trans finite) राशियों पर कार्य करने में असंख्यात की उपेक्षा की है। परन्तु, पारपरिमित गणात्मक संख्याओं के विभिन्न प्रकार बतलाये गये हैं। इस प्रकार, पारपरिमित गणात्मकों और अखण्ड फैलाव (Continuum) के सिद्धान्तों से प्राप्त गणितीय दक्षता, अमूर्त राशि सिद्धान्त को जन्म दे चुकी है, परन्तु उसकी बृहद संरचना करते समय, गणितज्ञों के सम्मुख विभिन्न मिथ्याभास (Paradox) उपस्थित हुए हैं, जिनका सर्वमान्य समाधान नहीं हो सका है। समाधान के लिये, इस शताब्दी में गणितीय दर्शन मे विभिन्न विचारधाराओ के आधार पर परि गणित (Meta-mathematics) की संरचना, गणितीय तर्क के रूप में हो चुकी है। वह केवल प्रतीक रूप में है। ज़ीनों के तर्क भी सर्वमान्य समाधान को प्राप्त नही हो सके हैं, जहाँ परिमित रेखा में अनन्त विभाज्यता का खण्डन किया गया है। और मेरी समझ में अन्तिम दो तर्कों में समय की अवधारणा को अन्यथा युक्ति खंडन के आधार पर पुष्ट किया गया है[1]। पायथेगोरियन युग में, बिन्दु की परिभाषा, "स्थिति वाली इकाई" थी। पायथेगोरियन सिद्धान्त के अनुसार, फिलोलस (Philolaus) ने कहा है "All things which can be known have

१ सन्मतिसन्देश, वर्ष १, अंक २, पृ० ७.

number; for it is not possible that without number anything can either be conceived or known.[१]"

एरिस्टाटिल ने वस्तुओं के लक्षणों और संख्याओं के बीच दार्ष्टान्त[२] आधारित कर, पायथेगोरियन-सिद्धान्त को निम्न लिखित शब्दों में व्यक्त किया था—

"They thougt they found in numbers, more than in fire, earth or water, many resemblances to things which are and become; thus such and such an attribute of numbers is justice, another is soul and mind, another is opportunity, and so on; and again they saw in number the attributes & ratios of the musical scales. Since, then, all things seemed in their whole nature to be the first things in the whole of nature, they supposed the elements of numbers to be the elements of all things, and the whole heaven to be a musical scale and a number.[३]"

जहां यूक्लिड ने बिन्दु को भाग रहित, विमाओं रहित कहकर छोड़ दिया है, वहां पायथेगोरियन परिभाषा, "monad having position" बहुत कुछ वैज्ञानिक प्रतीत होती है। प्लेटो द्वारा प्रतिपादित "चौड़ाई रहित श्रेणि breadthless length" की परिभाषा प्लेटो ने स्वयं दी है, "That of which the middle covers the end" (i. e. to an eye placed at either end and looking along the straight line) ;......"[४]

रूप (Figure) की परिभाषा मनोरंजक है, जिसे सुकरात (Socrates) ने इस प्रकार कहा है, "Let us regard as figure that which alone of existing things is associated with colour.' यहां रंग (Colour) के विषय मे विवाद उठने पर, सुकरातका उत्तर यह है, "It will be admitted that in geometry there are such things as what we call a surface or a solid, & so on; from these examples we may learn what we mean by figure; figure is that in which a solid ends, or figure is the limit (or extremity, περασ) of a solid."[५]

περασ शब्द का उच्चारण परस होता है। यहां चौड़ाई रहित श्रेणि के समान ही एकानन्तकी परिभाषा वीरसेन ने दी है। रूपी अथवा मूर्तिक पदार्थों (पुद्गल) के विषय में अवधारणाएं पठनीय हैं। इस प्रकार, यूनानी ज्यामिति में परिभाषायें, स्वसिद्ध, उपधारणायें, आधारभूत थीं जिनके विषय में यही कहा जाता है कि उन्हें पायथेगोरियन वर्ग ने खोजा था। जिस प्रकार जैनाचार्यों ने स्वलिखित ग्रंथों में आचार्य परम्परागत ज्ञान का ही आधार सर्वत्र लिया है[६], उसी प्रकार पायथेगोरियन वर्ग ही आविष्कारकों का नाम हुआ करता था[७]।

---

१ Heath, vol. 1, p. 67.

२ इस सम्बन्ध में धवलाकार वीरसेन द्वारा उद्धृत अंक एवं रैखिकीय का निरूपण देखने योग्य है। षट्खंडागम (पु. १०) ४, २, ४, १७३; पृ. ४२१–४३०, (१९५४)। तेजस्कायिक, पृथ्वीकायिक, जलकायिक, जीवराशि की गणना भी तिलोकप्रज्ञप्ति आदि ग्रंथों में विस्तृत रूप से वर्णित है।

३ Heath, vol. 1, Sc. 66.

४ Heath, vol. I. Sc. 293.

५ Heath, vol. I, Sc. 293.

६ ति. प. १, ८४.

७ Coolidge2, p. 26.

पाइथेगोरियन वर्ग के विषय में प्लेटो के कुछ कथन अति मनोरंजक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं—

"They have in view practicality, and are always speaking in a narrow and ridiculous manner of squaring and extending and applying and the like............ Then, my noble friend, geometry will draw the soul towards truth and create the spirit of philosophy, and raise up that which is now, unhappily, allowed to fall down............ And do you not know also that although they make use of visible forms and reason on them they are thinking not of those but of the ideal which they resemble, not of the figures which they draw, but of the absolute square, the absolute diameter and so on............ And when I speak of the other division of the intelligible you will understand me to speak of that other sort of knowledge which reason herself attains by the power of dialectic, using the hypotheses, not as first principles, but as base hypotheses, in order that she may soar beyond them to the first principle of the whole, and clinging to this and then to that which depends on this by successive steps. She may descend again without the aid of any sensible object from ideas through ideas, and in ideas she ends.[1]"

उपर्युक्त वर्णन, ऐसा प्रतीत होता है, मानो आला, आयत चतुरस्राकार लोक (जिसका तल दर्पणाकार होता है), जम्बूद्वीप (जो वृत्ताकार होता है) के विष्कम्भ, आदि के विषय में किया जा रहा हो। वास्तव में, यूनान का पाइथेगोरियन वर्ग अथवा बाद के दर्शनशास्त्री, गणित में क्या व्यावहारिक गणना के लिये रुचि रखते थे? नहीं, वे वास्तविक सत्य (absolute truth) के सम्बन्ध में ही रुचि रख कर, गणना करते थे[२]। यही भारतवर्ष में वीरसेन तथा यतिवृषभ के परिकर्म ग्रंथादि विषयक उल्लेख से प्रतीत होता है।

यदि जैनागम प्रणीत पुद्गल परमाणु के आधार पर कथंचित् प्रदेश सरचित आकाश की अवधारणाओं को लेकर आधुनिक ज्यामिति क्षेत्र में नये सुझाव दिये जावें तो प्रश्न उठता है कि अविभागी पुद्गल परमाणु किसे माना जावे। अनन्तानन्त पुद्गल परमाणुओं का एक क्षेत्रावगाही होना, स्पर्श (contact) के सिद्धान्त के लिये उपधारित हो, वह तो ठीक है, परन्तु क्या हम अणुविभंजन विधियों से उस अन्तिम परमाणु को प्राप्त करने की चरम सीमा तक पहुँच सकते हैं, अथवा नहीं? डेन्टन का विचार है, "In fact, the ultimate particle of matter presents great difficulties; it need not be the electron—probably is not—but the atomic notion of the constitution of matter does surely demand an ultimate particle, and such reasoning as has been suggested shows that to this ultimate particle no properties of any sort—not even magnitude can be assigned. The alternative of pushing the responsibility on to the last member of an unending series of particles can hardly be said to satisfy the mind which demands a clear physical conception of nature.[3]"

१ Coolidge, pp. 26, 27. २ Coolidge, p. 24. ३ Denton, p. 42.

क्या यह पुद्गल परमाणु, वह है जिसे आधुनिक वैज्ञानिकों ने उपधारित किया है, "Besides possessing extension in space and time, matter possesses inertia. We shall show in due course *that inertia, like extension; is expressible in terms of the intervāl relation*; but that is a development belonging to a later stage of our theory. Meanwhile we give an elementary treatment based on the empirical laws of conservation of momentum and energy rather than any deep-seated theory of the nature of inertia.

For the discussion of space and time we have made use of certain ideal apparatus which can only be imperfectly realized in practice—rigid scales and perfect cyclic mechanisms or clocks, which always remain similar configurations from the absolute point of view. Similarly for the discussion of inertia we require some ideal material object, say a perfectly elastic billiard ball, whose condition as regards inertial properties remains constant from an absolute point of view. The difficulty that actual billiard balls are not perfectly elastic must be surmounted in the same way as the difficulty that actual scales are not rigid. To the ideal billiard ball we can affix a constant number, called the invariant mass, (proper mass) which will denote its absolute inertial properties; and this number is supposed to remain unaltered throughout the vicissitudes of its history, or, if temporarily disturbed during a collision, is restored at the times when we have to examine the state of the body.[१]" यहां, अचल मात्रा (invariant mass—m) तथा सापेक्ष मात्रा (relative mass—M) के विषय में, किये गये प्रयोगों के आधार पर मात्रा को शून्य से उत्पन्न करना तथा मात्रा को शून्य में बदल देना (विनष्ट कर देना) जैसी कल्पनाएं पाठक न बना ले, उसके लिये हम अगला अवतरण पढ़ने के लिये बाध्य करते हैं—"It will thus be seen that although in the special problems considered the quantity m is usually supposed to be permanent, its conservation belongs to an altogether different order of ideas from the universal conservation of M.[२]"

पुनः, क्या बिन्दु विद्युन्मय कण (Point Electron) को पुद्गल परमाणु कहा जाय, जिसके विषय में यह कहा गया है, "Accordingly, I am of opinion that the point-electron is no more than a mathematical curiosity, and that the solution (78, 6) should be limited to values of r greater than a.[३]" इसके विषय में अभी हम कहने में असमर्थ हैं। निश्चित कार्य हो जाने पर हम निर्धारण करेंगे।

इस प्रकार, आकाश में प्रदेशों की श्रेणियाँ मुख्य रूप से मानकर, विग्रहगति (कर्म निमित्तक योग)

१ Eddington, The mathematical Theory of Relativity, pp. 29, 30.

२ Eddington, p. 33   ३ Eddington p. 33.

इनके विषय में हम पाठकों का ध्यान प्रथम महाधिकार की १६८ वीं गाथा से लेकर, महाधिकार के अन्त तक गाथाओं के रैखिकीय निरूपण की ओर आकर्षित करते हैं। कहा नहीं जा सकता, कि ये रैखिकीय विधियां कहां तक पांच सांद्रों सम्बन्धी उलझे हुए प्रश्न को सुलझा सकेंगी। समाधान अनुसंधान पर आश्रित है।

अंक गणना

इस ग्रन्थ से भी पूर्व के ग्रन्थों, अनुयोगद्वार सूत्र[१] (१०० ई०पू०), तथा षट्खण्डागम[२] में मनुष्य पर्याप्तों में मिथ्यादृष्टि मनुष्य द्रव्य प्रमाण की अपेक्षा से कोड़ाकोड़ाकोड़ि से ऊपर और कोड़ाकोडाकोड़ाकोड़ि से नीचे, अथवा छठवें और सातवें वर्गों के बीच की संख्या बतलाई गई है। यहां शून्य का स्थानार्हा पद्धति में प्रयोग किया गया है। भारतीय गणित में ऐसा निरूपण पूर्व के ग्रन्थों में अभी अन्यत्र कहीं नहीं दिखा है। बख्शाली हस्तलिपि में O प्रतीक का प्रयोग शून्य (Emptiness) अथवा अग्राह्यता (Omission) के लिये हुआ प्रतीत होता है। वीरसेन के पूर्व के सूत्रों में कई शैलियों से संख्या का कथन किया गया है जिसके लिये सूत्र ५२, ७१, ७२ आदि देखने योग्य हैं[३]। तिलोय-पण्णत्ति में प्रायः सभी स्थानों में स्थानार्हा पद्धति का उपयोग है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि इसकी संरचना के समय तक दसार्हा संकेतना पूरी तरह उपयोग में आ चुकी थी। गाथा ३०८ (चतुर्थ महाधिकार) में अचलात्म नामक काल की संकेतना दी गई है जो $(८४)^{३१} \times (१०)^{९०}$ प्रमाण वर्षों के तुल्य होता है[४]। आगे निर्देशित किया है कि यह संख्यात काल वर्षों की गणना, उत्कृष्ट संख्यातकी प्राप्ति तक ले जाना चाहिये। यह नहीं कहा जा सकता कि, आर्यभट्ट से भी पूर्व वर्गमूल या घनमूल निकालने की रीतियां भारत वर्ष में प्रचलित थीं, परन्तु तिलोय-पण्णत्ति तथा षट्खंडागम में आये हुए उल्लेखो से प्रतीत होता है कि यहां ऐसे कथन भी थे, "जगश्रेणी को जगश्रेणी के बारहवें वर्गमूल से भाजित करने पर जो प्रमाण प्राप्त होता है वह वंशा पृथ्वी के नारकियों का प्रमाण होता है[५]"।

यद्यपि यूनानमें दशमलव पद्धति का प्रचलन ऐतिहासिक काल में सबसे पूर्व हुआ प्रतीत होता है, तथापि मिश्र मे उनसे भी पूर्व दसार्हा पद्धति के आधार पर १, १०, १००, १००० आदि के लिये चिन्ह थे। इसी प्रकार बेबीलोन में भी दशमलव और षाष्टिक पद्धतियों पर संख्याओं के निरूपण के लिये चिन्ह थे। आर्कमिडीज् पद्धति उल्लेखनीय है। $(१०)^{८}$ पर आधारित यह पद्धति काल के विषय में बड़ी संख्याओ की प्ररूपणा के लिये थी जिसके सम्बन्धमें कहा गया है, "This system was, however, a tour-de-force, and has nothing to do with the ordinary Greek numerical notation.[६]"

इन सबकी तुलना मे उत्कृष्ट संख्यात, गणना द्वारा उत्पन्न करने की रीति, जो तिलोय-पण्णत्ति में वर्णित है, वह दूसरे ग्रंथों के आधार पर पायथेगोरियन युग की प्रतीत होती है। एक और नवीन रीति का वर्णन अत्यंत रोचक है। वह है वर्गण-संवर्गण विधि। इस विधि को शलाका निष्ठापन विधि भी

---

१ अनु. सूत्र १४२.

२ द्रव्यप्रमाणानुगम (पु. ३) सूत्र ४५.

३ द्रव्यप्रमाणानुगम

४ यह संकेतना वर्णन अनुयोगद्वारसूत्र में भी है, और उसका प्रचलन उससे भी पूर्व काल में हुआ होगा।

५ तिलोयपण्णत्ति २, १९६.

६ Heath, vol 1. p. 41.

हो सकता है कि नवीं सदी में हुए महावीराचार्य और प्रायः ३०० वर्ष पूर्व हुए यतिवृषभ की गणनाविधियों में अन्तर रहा हो, तथापि यतिवृषभ कालीन जैनाचार्य का गणित ग्रंथ न होने से इस विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता।

अन्त में, यह भी उल्लेखनीय है कि जैनाचार्यों की भांति यूनान में संख्याओं को २^n के रूप में प्ररूपण करने का प्रचलन था। "The Neo-Pythagoreans improved the classification thus. With them the 'even-times even' number is that which has its halves even, and so on till unity is reached'[8]; in short, it is a number of the form 2^n"[१]

बीजगणित

इस ग्रंथ में उपयोग में आये हुए प्रतीकों का उपयोग केवल संख्या निरूपण के लिये ही नहीं वरन् कुछ क्रियाओं के लिये भी हुआ है। वीरसेन द्वारा अर्द्धच्छेदों और वर्गशलाकाओं के प्रमाण को शब्दों में व्यक्त करना सरल सा प्रतीत होता है, तथापि यह कथन करना कि $\log_२ \log_२ \overline{Iij}|^3$ राशि $\overline{Iij}|^१$ से १ वर्ग स्थान भी ऊपर नहीं पहुँची है, वास्तव में यह निरूपण है[२] —

$$\log_२ \log_२ \overline{Iij}|^3 = [Iij]^{Iij+१} \log Iij + (Iij+१) \log Iij + \log \log Iij$$

स्पष्ट है, कि ऐसे निरूपणों से भरे हुए इस ग्रंथ के रचने में वीरसेन के पास क्रियात्मक प्रतीकत्व अवश्य रहा होगा। यतिवृषभ के द्वारा जगश्रेणी का प्रतीक एक आड़ी रेखा होना, तथा उसके घन का $\equiv$ रूप में प्ररूपित होना, नानाघाट शिलालेख काल से लेकर कुशन काल अथवा उससे भी बाद के क्षत्रप और आन्ध्र शिलालेख कालीन प्रतीत होता है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है, कि घटाने के लिये ऋण शब्द (रिण) का उपयोग, पृष्ठ ६०२ से लेकर ६१७ तक हुआ है। बख्शाली हस्तलिपि में रिण के + उपयोग में लाया गया है। + प्रतीक की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न मतों को हम प्रस्तुत करते हैं,

"The origin of the Bakhshali minus sign (+) has been the subject of much conjecture. Thibaut suggested its possible connection with the supposed Diophantine negative sign ⊥ (reversed ψ, tachygraphic abbreviation for λειψιο meaning wanting). Kaye believes it. The Greek sign for minus, however, is not ⋔ but ↑. It is even doutful if Diophantus did actually use it; or whether it is as old as the Bakhshali cross.[4] Hoernle[5] presumed the Bakhshali minus sign to be the abbreviation ka of the Sanskrit word kanita, or nu (or nu) of nyuna, both of which mean diminished and both of which abbreviations in the Brahmi characters would be denoted by a cross. Hoernle was right, thinks Datta,[6] so far as he sought for the origin of + in a tachygraphic abbreviation of some Sanskrit word. But, as neither the word kanita or nyuna is found to have been used in the Bakhshali work in connection with the subtractive operation, Datta finally, rejects the theory of Hoernle and believes it to be the abbre-

१ Heath vol. I, P. 72. २ षट्खंडागम—द्रव्यप्रमाणानुगम पृष्ठ २४.

viation ksa, from ksaya (decrease) which occurs several times, indeed, more than any other word indicative of subtraction. The sign for ksa, whether in the Brahmi characters or in Bakhshali characters, differs from the simple cross (+) only in having a little flourish at the lower end of the vertical line. The flourish seems to have been dropped subsequently for convenient simplification[1]."

तिलोय-पण्णत्ती मे उपयोग मे आये हुए प्राकृत शब्द 'रिण' के आधार पर हम भी अपना सुझाव रख सकते हैं। + चिह्न, रिण शब्द के रि अक्षर से ब्राह्मी लिपि के अनुसार (ी) लिया गया है। इस रिण शब्दको केवल परम्परागत आचार्यों द्वारा प्राप्त कार्य मार्गणाओ में स्थित जीवों की सख्या प्ररूपणा करने तथा उनमें अल्पबहुत्व दिखलाने के लिये प्रतीक निरूपण रूप में लिया गया है। हम यह कह सकते हैं कि रिण शब्द का उपयोग यतिवृषभ कालीन नही वरन् उनके पूर्व काल का है। इसके लिये प्रमाण हम और आगे चलकर बतलावेंगे। रिण शब्द का प्रयोग उस काल का निरूपण करता है जब कि + उपयोग में लाया गया होगा। और इस प्रकार रिण शब्द के उपयोग से, उपयोग मे आये हुए अन्य प्रतीकों का काल निर्धारण हो सकता है। स्पष्ट है कि रिण शब्द से + धीरे धीरे किस प्रकार उपयोग मे आने लगा होगा और यदि ऐसा हुआ है तो प्रतीकत्व का उपयोग वख्शाली काल से बहुत पूर्व का होना चाहिये। यह निर्णय करना भाषाविज्ञान शास्त्रियों के लिये है। उल्लेखनीय है कि धवलाकार वीरसेनाचार्य ने भी ऋण के लिये + प्रतीक का उपयोग किया है[2]।

पुनः, चौथे महाधिकार मे गाथा १२८७ से लेकर १९९१ तक कोठों में शून्य का उपयोग क्या अग्राह्यता के लिये हुआ है, यह अभी नहीं कहा जा सकता। बख्शाली हस्तलिपि में भी ० का उपयोग खाली स्थान अथवा अग्राह्यता (omission) के लिये हुआ है। तथापि, शून्य का यह उपयोग खाली स्थान के लिये ही हुआ होगा, यह सम्भव प्रतीत होता है। भिन्न-भिन्न असंख्यात संख्याओं के निरूपण के लिये भिन्न-भिन्न प्रतीक लिये गये हैं। जैसे असंख्यात के लिये a, असंख्यात लोक प्रमाण राशि के लिये ९, तथा 'असंख्यात लोक ऋण एक' के लिये ८ को उपयोग में लाया गया है, इत्यादि। संख्यात के लिये...(यह चिह्न ति. प. पृ. ६०३ पंक्ति २ मे देखिये) प्रतीक उपयोग मे आया है। मिश्र में इसका उपयोग १०० की लिये प्रतीक रूप में हुआ है। मिश्र मे खड़ी लकीर १ का, ग्रीस मे खड़ी लकीर १० का निरूपण करती थ तथा ☰ ६० के लिये प्रतीक था। ९, १०० का प्रतीक था। आगे मू. अक्षर का उपयोग केवल निम्न लिखित स्थान में दिखाई देता है[3]—

=५८६४ रिण रा. = ४।४।६५६१ ४।६५५३६ ५	− २ मू.	॰ ^ ——— १।३ मू.	= ४।६५५३६।५

यह स्थापना कैसे उत्पन्न की गई है, यह समझने मे हम अभी समर्थ नही हैं। तथापि, बख्शाली हस्तलिपि मे मू. प्रतीक का उपयोग मूल के लिये हुआ है। इसी प्रकार यहा तथा और दूसरी जगह भी ơ का उपयोग योग के लिये किया गया प्रतीत होता है। Ω का अर्थ हम नही समझ सके हैं। इस प्रकार a, ơ, Ω, ९ मे यूनानी झलक दिखाई देती है, तथापि, निम्न लिखित अवतरण पढ़ना वांछनीय है।

---

१ B. B. Datta & A. N. singh Part I. PP. 14, 15.

२ षट्खंडागम पु. १०, ४, २, ४, ३२, पृ. १५१. ३ ति. प. भाग २, पंचम अधिकार, पृष्ठ ६०९.

"Ssade, a softer sibilant (= σ σ), also called San in early times, was taken over by the Greeks in the place it occupied after π......... The Phoenician alphabet ended with T; the Greeks first added Υ, derived from Vau apparently (......), then the letters Φ, X, Ψ and, still later, Ω.........Now, as Ω is fully established at the date of the earliest inscriptions at Miletus (about 700 B. C.) and Naucratis (about 650 B. C.), the earlier entension of the alphabet by the letters Φ X Ψ must have taken place not later then 750 B. C."[१]

इस प्रकार, σ, Ω, ☰, के उपयोग के आधार पर रिण का उपयोग भी तिलोय-पण्णत्ती की संरचना से पूर्व का प्रतीत होता है।

रज्जु के लिये र, पल्य के लिये प, आदि प्रतीक ग्रहण करना स्वाभाविक है। द्वीन्द्रिय के लिये बीइंदिय शब्द का उपयोग प्राकृत में होता रहा है। सूच्यंगुल के लिये और कहीं कहीं आवलि के लिये २ प्रतीक चुना है— इसका कारण, तथा उपयोग में लाये जाने के काल का निर्धारण करना अभी शक्य नहीं है। भिन्नों के लिखने की शैली बख्शाली हस्तलिपि के समान ही है। मिश्र में भी यही शैली प्रचलित थी।

जैसे, $\frac{१}{२३}$ को ∩∩ ||| और $\frac{१}{३२४}$ को ९९९∩∩ |||| लिखा जाता था। बेबीलोन में भी खड़ी और आड़ी खूंटियों के द्वारा संख्या निरूपण होता था, जैसे I<........का अर्थ $(६०)^{८}$ + १०. $(६०)^{७}$ होता था। जिस तरह द्वि के लिये प्राकृत मे बी है, उसी प्रकार यूनानी अक्षर β दो का प्रतीक है। अन्य चिह्न प्राप्त नहीं हुए हैं।

प्रतीकत्व के उपयोग के सिवाय, विभिन्न स्थानों में सूत्रों का उपयोग, तथा सूत्र द्वारा अल्पबहुत्व का निरूपण ही विभिन्न समीकारों की उत्पत्ति करता है, जो पठनीय हैं, तथा जिनसे पर्याप्त मात्रा में खोज की जा सकती है। अल्पबहुत्व का निरूपण ही विश्लेषण अथवा बीजगणित है, जिसके कुछ उदाहरण अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं, और जिनके पूर्वापर विरोध का खंडन करने के लिये वीरसेन अथवा यतिवृषभने अपने समय की प्रचलित युक्तियों की झलक दिखा दी है। वही झलक ऐतिहासिक दृष्टिसे कितने महत्व की है, यह स्वयं प्रकट हो जावेगा।

मापिकी या ज्यामिति विधियां

तिलोय-पण्णत्ती के विवरणसे स्पष्ट है कि जैनाचार्यों ने जो भी खोजें कीं वे परम्परागत ज्ञान को सुलझाने, स्पष्ट करने के लिये ही कीं हैं। जम्बूद्वीप आदि द्वीप-समुद्रों के वृत्तरूप क्षेत्रों के क्षेत्रफल, धनुष, जीवा, बाण पार्श्वभुजा तथा उनके अल्पबहुत्वों का प्रमाण निकालने के लिये उन्होंने वृत्त और सरल रेखा पर बहुत कार्य किया। यूनानियों ने भी वृत्त और सरल रेखा पर आधारित अंशदान दिया है। पुनः लोक के चतुरस्र आकार के कारण उन्होंने वेत्रासन के आकार के सांद्रों का छेदविधिसे विभिन्न प्रकार के ज्ञात क्षेत्रों में प्राप्त कर, घनफल निकाला है, जिनमें वातवलयों से वेष्टित आकाशका घनफल निकालना, उनकी पटुता का द्योतक है। क्षेत्रावगाहना के वर्णन के आधार पर उन्होंने बेलनाकार, शंक्वाकार, क्षेत्रों के घनफल भी निकाले हैं। ये विधियां भारतीय शैली के आधार पर सूत्रबद्ध निरूपित हैं। यह सब होते हुए, गोल क्षेत्र के घनफल का निरूपण न होना एक आश्चर्यपूर्ण बात प्रतीत होती है, क्योंकि गोलार्द्ध बिम्बों की अवगाहना तथा चंद्रादि की कलाओं के क्षेत्रफल आदि विषयों की चर्चाओं को भी

१ Heath vol. I. PP. 32-34.

गणितीय निरूपण प्राप्त होना था। यूनानमें गोलके सम्बन्धमें (पायथेगोरियन युग से अथवा उसके बाद के सूत्र की) प्ररूपणा है, तथा जैनाचार्यों द्वारा उसका उपयोग न करना इस बातका सूचक है कि उन्होंने जो कुछ किया वह उनकी स्वतः की मौलिक प्रतिभाका अंशदान था जिसके बहुत से उदाहरण धवला टीका तथा तिलोय-पण्णत्तीमें बिखरे पड़े हैं। दृष्टिवाद अंगके आधार पर जम्बूद्वीपकी परिधिका उल्लेखितरूप में कथन ही इस बात का सूचक है कि तिलोय-पण्णत्तिकी सरचनाके पूर्व ही, $\sqrt{१०}$ का उपयोग π के लिये हो चुका था[१]। तथा ख ख पदससत्त पुदं का गुणकार $\frac{२३२१३}{१०५४०९}$ निश्चित करना एक अति कठिन गणनाके आधार पर प्राप्त हुआ होगा[२]। यदि यह गणना बौद्धायन के शुल्व सूत्र कालीन है तो बौद्धायन द्वारा निश्चित $\pi = ३\cdot०८८$, का मान इससे स्थूल है[३]। यूनान मे, आर्कमिडीज़ का प्रयत्न अति प्रशंसनीय माना जाता है। उसने π का मान इस रूपमें निश्चित किया था[४] :—

$$\frac{१३५१}{७८०} > \sqrt{३} > \frac{२६५}{१५३}$$

तथापि, वीरसेनाचार्य द्वारा उपयोग मे लाया गया सूत्र, 'व्यास षोडशगुणितं………' चीन के त्सुशुंग चिह (Tsu-chung-chih) के द्वारा दिये गये π के प्रमाण से मिलता जुलता है, जो षोडश सहित को निकाल देने पर एक सा हो जाता हैं। वास्तव मे यह अत्यंत सूक्ष्म प्रमाण है जहाँ $\pi = \frac{३५५}{११३} = ३\cdot१४१५९२$ आदि प्राप्त होता है। इसकी विधि चीन में प्राप्य नहीं है, तथापि उसका उद्गम वीरसेनाचार्य द्वारा दिये गये सूत्र में निबद्ध है। जहा वीरसेन ने यह सूत्र नवीं सदी मे उल्लेखित किया है, वहां त्सु शुग चिह ने प्रायः ४७६ ईस्वी पश्चात् में लिया है[५]। इससे प्रतीत होता है, कि चीनियों ने

$$\frac{१६ \text{ व्यास} + १६}{११३} + ३ (\text{व्यास}) = \text{परिधि}$$

सूत्र को प्रथम पद में से १६ निकाल कर सुधार किया होगा। अथवा, भारत मे वह सूत्र चीन से लिया गया हो, जो १६ अधिक होने से गलत रूप में सूत्र बद्ध हो गया हो। यह एक ऐतिहासिक महत्व रखता है तथा चीन से गणितीय सम्बन्ध की परम्परा स्थापित करता है[६]।

तिलोय-पण्णत्ती के चतुर्थ अधिकार मे गाथा १८० और १८१ में दिये गये सूत्र अति महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। ये सूत्र, जीवा और धनुष का प्रमाण निकालने के लिये हैं, गणना $\sqrt{१०}$ के आधार पर इन सूत्रों की सरचना का प्रमाण मिलता है। जीवा के विषय में बिलकुल ऐसा ही सूत्र,[७]

$$\text{जीवा} = \sqrt{४ \left[\left(\frac{\text{व्यास}}{२} \right)^{२} - \left(\frac{\text{व्यास}}{२} - \text{बाण} \right)^{२} \right]}$$

रूप में, बेबीलोन मे अभिलेखों के आधार पर २६०० वर्ष ईस्वी पूर्व उपस्थित होना, हमें आश्चर्य में डाल देता है।[८] जहा π का मान निश्चित रूप से ३ होना स्वीकृत हो चुका है[९] वहां पायथेगोरियन

१ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में कुछ भिन्न मान हैं। भिन्नता हाथ प्रमाण से प्रारम्भ होती है और इसके पश्चात् प्रमाण का कथन नहीं है (१–२३)। २ ति. प. ४, ५५–५६. ३ Coolidge P. 15.
४ Coolidge P. 61. ५ Coolidge P. 61.

६ इस सूत्र की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में डा० अवधेशनारायणसिंह के विचार देखने योग्य हैं जो उन्होंने "वर्णी अभिनन्दन ग्रंथ", सागर, (वीर नि. स० २४७६) में प्रकाशित अपने "भारतीय गणित के इतिहास के जैन-स्रोत" में पृष्ठ ५०३ पर व्यक्त किये हैं।

७ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में इस रूप में सूत्र मिलता है— $\text{जीवा} = \sqrt{४\cdot \text{बाण} (\text{विष्कम्भ} - \text{बाण})}$ २-२३, ६-९.
८ Coolidge P. 7. ९ Coolidge P. 6.

साध्य के आधार पर इस सूत्र का होना उपयुक्त है। धनुष के सम्बन्ध में जैनाचार्यों द्वारा दिया गया सूत्र π का $\sqrt{१०}$ मान लेने के आधार पर है, जो बेबीलोन में अप्राप्य प्रतीत होता है। सूत्रों की ऐसी क्रमबद्धता के आधार पर, मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानो Cuneiform texts[१] की तिथि २६०० वर्ष ईस्वी पूर्व निश्चित करना शंकास्पद है। $\sqrt{१०}$ का मान π रखकर, उपर्युक्त दो समीकारों द्वारा, कुछ ऐसे सम्बन्ध प्राप्त किये जा सकते हैं जो हाइजिन्स ने धनुष और जीवा के बीच, टेलर के साध्य के आधार पर प्राप्त किये हैं। आश्चर्य है कि महावीराचार्य ने इन सूत्रों को कुछ दूसरे ही रूप में दिया है[२]।

$$\text{धनुष की लम्बाई} = \sqrt{५\,(\text{बाण})^2 + (\text{जीवा})^2}$$

अवधा के क्षेत्रफल निकालने के लिये महावीराचार्य ने जो सूत्र दिया है,

$$\text{क्षेत्रफल} = (\text{जीवा} + \text{बाण}) \times \frac{\text{बाण}}{२}$$

वह चीन में चिउ-चांग सुआन चु (Chiu-Chang suan-chu) ग्रंथ से लिया गया प्रतीत होता है, जिसकी तिथि पुस्तकों के जलाये जाने की घटना के कारण निर्णीत नहीं हो सकी है। वहां, उनसे भी पूर्व के ग्रंथ तिलोय-पण्णत्ती में धनुषाकार क्षेत्र का क्षेत्रफल $\frac{\text{बाण} \times \text{जीवा}}{४}\sqrt{१०}$ रूप में प्राप्त होना आश्चर्यजनक है[3]। यूनान में, सिकन्दरिया के हेरन ने, इनके प्रमाण और कुछ प्राप्त किये हैं[४]।

इनके पश्चात् महत्वपूर्ण सूत्र अनुपात सिद्धान्त (Theory of proportion) सम्बन्धी हैं। यतिवृषभ ने इन्हें, गाथा १७८१ (महाधिकार चौथा), से लेकर गाथा १७९७ तक शंकु समच्छिन्नकों (frustrums of cone) की पार्श्वभुजाओं (Slant lines) के सम्बन्ध में व्यक्त किये हैं[५]। इनके सिवाय, वेत्रासन तथा अन्य आकार के वातवलय सम्बन्धी क्षेत्रों (लोक का वेष्टन करनेवाले क्षेत्रों) का घनफल निकालने में जो निरूपण दिया है वह सिकन्दरिया के हेरन (ईसा की तीसरी सदी) के βωμιοκοσ सम्बन्धी घनफल के निरूपण की तुलना में किसी प्रकार कम नहीं है[६]। इसके आधार पर वेत्रासन (छोटी वेदी) सदृश आकार के सांद्रों का वर्णन अन्य धर्मग्रंथों में भी मिलना मनोरंजक है, और उनमें सम्बन्ध स्थापित करना इतिहासकारों का कार्य है[७]। पुनः लोक का घनफल विभिन्न आकारों के क्षेत्रों में व्यक्त करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जो पायथेगोरियन कालीन विधियों से सम्पर्क स्थापित करने में सहायक सिद्ध हो सकता है। चौथे अधिकार में गाथा २४०१ आदि का निरूपण हेरन की Anchoring या tore की स्मृति स्पष्ट करती है[८]।

हेरन ने शंकु समच्छिन्नक का घनफल दो विधियों से निकाला है, परन्तु वीरसेन ने शंखाकार मृदंग रूप लोक की धारणा को अन्यथा सिद्ध करने के लिये जिस विधि का प्रयोग किया है, वह अन्यत्र देखने में

---

१ Coolidge P. 7.

२ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में इसका मान $\sqrt{६\,(\text{बाण})^2 + (\text{जीवा})^2}$ दिया है (२–२८, ६–१०). गणितसारसंग्रह अध्याय ७, सूत्र ४३.

३ ति. प. ४, २३७४.

४ Heath vol. (II) PP. 330, 331.

५ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ३।२१३-२१४; ४।३९, १३४-१३५, १०।२१; ११।२८.

६ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में इस सम्बन्ध में दी गई विधि तिलोयपण्णत्ती में दी गई विधि के समान है (११–१०९).

७ गाथा २७० आदि, प्रथम महाधिकार।

८ Heath vol. (ii) P. 334.

नहीं आई है। उस विधि से, घनफल निम्न लिखित श्रेढि का योग निकालने पर प्राप्त होता है जो बिलकुल ठीक है,

$$\pi\left(\frac{\text{व्याम}_1}{2}\right)^2\text{उत्सेध}+\left(\pi.\text{व्या}_1.\text{उ}.\frac{\text{व्या }2-\text{व्या }1}{2^2}\right)$$
$$+\left(\pi\frac{\text{व्या}_2-\text{व्या}_1}{2^2}.\frac{\text{उ}}{2}.\frac{\text{व्या}_2-\text{व्या}_1}{2}\right)$$
$$+\left(\pi\frac{\text{व्या}_2-\text{व्या}_1}{2^3}.\frac{\text{उ}}{2^2}.\frac{\text{व्या}_2-\text{व्या}_1}{2}\right)+\cdots\text{असंख्यात तक,}$$

क्योंकि अविभागप्रतिच्छेदों की संख्या, अंतिम प्रदेश प्राप्त करने तक अनन्त नहीं हो सकती है[1]। हम अभी नहीं कह सकते कि यह विदारण विधि यूनानियों की विधियों के आधार पर है अथवा सर्वथा मौलिक है। वीरसेन ने क्षेत्र प्रयोग विधि के आधार पर जो बीजीय समीकारों का रैखिकीय निरूपण दिया है वह भी क्या यूनानसे लिया गया है, यह भी हम नहीं कह सकते; क्योंकि हो सकता है कि पारपरिमित गणात्मक संख्याओंके निरूपण के लिये ये विधियां भारत में पहिले भी प्रचलित रहीं हों[2]।

ज्योतिष सम्बन्धी एवं अन्य गणनायें

त्रिलोक संरचना के विषय में कुछ भी कहना विवादास्पद है। यहाँ केवल दूरियों के कथन तथा बिम्बों के अवस्थित एवं विचरण सम्बन्धी विवरण, पूर्वापर विरोध रहित एवं सुव्यवस्थित रखे गये हैं। रज्जु के कितने अर्द्धच्छेद लिये जावें, इस विषयमें वीरसेन अथवा यतिवृषभ ने बिम्बों के कुल प्रमाण को परम्परागत ज्ञान के आधार पर सत्य मान कर, परिकर्म नामक गणित ग्रंथ में दिये गये कथन में 'रूपाधिक' का स्पष्टीकरण किया है। यह विवेचन वीरसेन अथवा यतिवृषभकी दक्षता का परिचय देता है। सातवें महाधिकार में चंद्रमा के बिम्ब की दूरी एवं विष्कम्भ के आधार, आंख पर आपतित कोण का माप आधुनिक प्राप्त सूक्ष्म मापों से १० गुणा हीन है[3]। गोलार्द्ध रूप चंद्रमा आदि के बिम्बों का मानना, उनकी अवलोकन शक्ति का द्योतक है, क्योंकि ये बिम्ब सर्वदा पृथ्वी की ओर केवल वही अर्द्धमुख रखते हुए विचरण करते हैं। सूर्य के विषय में आधुनिक धारणा यन्त्रों के आधार पर कुछ दूसरी ही है। उष्णतर किरणों तथा शीतल किरणों का क्या अर्थ है, समझ में नहीं आ सका है। इनका अर्थ कुछ और होना चाहिये, जिनके अधार पर, चंद्रमा आदि के गमन के कारण ही उसकी कलाओं का कारण सम्भवतः प्रकट हो सके (?) बृहस्पति से दूर मंगल का स्थित होना आधुनिक मान्यता के विपरीत है। गाथा ११७ आदि में समापन और असमापन कुंतल (Winding and Unwinding Spiral) में चंद्र और सूर्य का गमन, सम्भव है, आर्कमिडीज़ के लिये कुंतल के सम्बन्ध में गणना करनेके लिये प्रेरक रहा हो[4]।

पायथेगोरसके विषयमें किसी सिकंदरियाके कवि ने प्रायः २०० ई. पू. में कहा है—

"What inspiration laid forceful hold on Pythagoras when he discovered the subtle geometry of (the heavenly) spirals and com-

१ षट्खंडागम पु. ४, पृ. १५. २ षट्खंडागम पु. ३, पृ. ४२–४३. ३ ति. प. ७, ३९.

४ Heath vol (ii) 64. तथा मन्सर के शिल्प शास्त्र के आधार पर लिखे गये ग्रंथ, "The way of the Silpis" by G. K. Pillai (1948) के शिल्पीसूत्र में इस कुन्तल को यथारथ सिद्ध किया गया है।

pressed in a small sphere the whole of the circle which the aether embraces.[१]"

पुनः, निम्न लिखित अवतरण विचारणीय है :—

"As regards the distances of the sun, moon and planets Plato has nothing more definite than the seven circles 'in the proportion of the double intervals, three of each'[3]: the reference is to the Pythagorean τετρακτυς represented in the annexed figure,... what precise estimate of relative distances Plato based upon these figures is uncertain.[२]"

विविध गणनायें, गणित के प्रसंगानुसार, सुव्यवस्थित एवं उपयुक्त हैं। ग्रहों के सम्बन्धमें, उनके गमनविषयक ज्ञान का कालवश विनष्ट होना बतलाया है, तथापि वह अपोलोनियस तथा हिपरशस की खोजों के आधार पर व्यवस्थित हो सकता है। जैनाचार्यों के चांद्र दिवस व मास के समान यूनान में भी एरिस्टरशस (Aristarchus) द्वारा २८१ अथवा ० ई. पू. में, और हिपरशस द्वारा १६१ ई. पू.-१२६ ई. पू. में चंद्र मास और चंद्र वर्ष की गणनाएं की गई थीं। इसके सम्बन्ध में निम्न लिखित विचार पठनीय है।

"We now learn that the length of the mean synodic, the sidereal, the anomalistic and the draconitic month obtained by Hipparchus agrees exactly with Babylonian cuneiform tables of date not later than Hipparchus, and it is clear that Hipparchus was in full possession of all the results established by Babylonian astronomy[3]."

परन्तु; जहां तक पायथेगोरियन युग के बाद की (प्लेटो कालीन एवं उपरांत के) ज्योतिष का सम्बन्ध है, तिलोय-पण्णत्ती सदृश मूल ग्रंथ, उस यूनानी ज्योतिष के प्रभाव से सर्वथा अछूते दृष्टिगत होते हैं। साथ ही, ऐसे ज्योतिष मूल ग्रंथों के भारतीय ज्योतिष के लिये प्रदत्त अंशदान सम्बन्धी विवेचन के लिये पाठकगण, पं० नेमिचंद्र जैन ज्योतिषाचार्य द्वारा लिखित "भारतीय-ज्योतिष का पोषक जैन-ज्योतिष" नामक लेख (जो 'वर्णी अभिनन्दन ग्रंथ' सागर में प्रकाशित हुआ है) देख सकते हैं। इस लेख में सुविज्ञ लेखक मुख्यतः निम्न लिखित निष्कर्षों पर पहुँचे प्रतीत होते हैं।

(१) पञ्चवर्षात्मक युग का सर्व प्रथमोल्लेख जैन ज्योतिष-ग्रंथों में प्राप्त होना।

(२) अवम-तिथि क्षय सम्बन्धी प्रक्रिया का विकास जैनाचार्यों द्वारा स्वतन्त्र रूप से किया जाना।

(३) जैन मान्यता की नक्षत्रात्मक ध्रुवराशि का वेदाङ्गज्योतिष में वर्णित दिवसात्मक ध्रुवराशि से सूक्ष्म होना तथा उसका उत्तरकालीन राशि के विकास में सम्भवतः सहायक होना।

(४) पर्व और तिथियों में नक्षत्र लाने की विकसित जैन प्रक्रिया, जैनेतर ग्रंथों में छठी शती के बाद दृष्टिगत होना।

(५) जैन ज्योतिष में सम्वत्सर सम्बन्धी प्रक्रिया में मौलिकता होना।

---
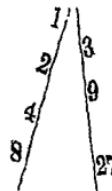
१ Heath vol. (i) P. 163. २ Heath vol. 1. P. 313. ३ Heath vol. (ii) PP. 254, 255.

(६) दिनमान प्रमाण सम्बन्धी प्रक्रिया में, पितामह सिद्धान्त का जैन प्रक्रिया से प्रभावित प्रतीत होना।

(७) छाया द्वारा समय निरूपण का विकसित रूप इष्ट काल, भयाति आदि होना।

यहां मन्सर (सम्भवतः ५००-७०० ईस्वी पश्चात् अथवा इससे कुछ पूर्व ?) के शिल्प शास्त्र पर आधारित श्री पिल्लई के खोजपूर्ण ग्रन्थ, "The way of the Silpis" (1948) में वर्णित ज्योतिष सम्बन्धी खोजों का उपर्युक्त के साथ तुलनात्मक अध्ययन सम्भवतः उपयोगी सिद्ध हो।

इनके अतिरिक्त आतप और तम क्षेत्र तथा चक्षुस्पर्शाध्वान सम्बन्धी कथन, गणना के क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं। इन सब अवधारणाओं के हेतुओं का सिद्धान्तबद्ध स्पष्टीकरण करना, इस दशा में अशक्य है।

मुख्यतः त्रिलोकप्रज्ञप्ति विषयक गणित का यह कार्य, परम श्रद्धेय डॉ. हीरालाल जैन के सुसंसर्ग मे समय समय पर प्रबोधित होकर रचित हुआ है। उनके प्रति तथा जिन सुप्रसिद्ध निस्पृही लेखकों के ग्रंथों की सहायता लेकर यह कार्य किया गया है उनके प्रति भी हम आभार प्रकट करते हैं।

निर्देशित ग्रंथ एवं ग्रंथकारों की सूची —

(१) श्री यतिवृषभाचार्य विरचित तिलोय-पण्णत्ती भाग १, २.
सम्पादक प्रो. हीरालाल जैन, प्रो. ए. एन्. उपाध्ये, १९४३, १९५०.

(२) श्री धवला टीका समन्वित षट्खंडागम पुस्तक ३, पुस्तक ४.
सम्पादक हीरालाल जैन, १९४१, १९४२.

(३) A History of Geometrical methods, by Julian Lowell Coolidge Edn. 1940.

(४) A History of Greek Mathematics, part I & II. by sir thomas Heath. Edn. 1921.

(५) History of Hindu Mathematics, Part I & II. by Bibhutibhusen Datta, & Awadhesh Naryan singh, Edn. 1935, 1938.

(६) Abstract Set theory, by Abraham A. Fraenkel, Edn. 1953.

(७) The Mathematical Theory of Relativity by A. S. Eddington Edn. 1923.

(८) The Development of Mathematics by E. T. Bell. Edn. 1945.

(९) तत्त्वार्थराजवार्तिक, 'श्री अकलंकदेव'

(१०) Relativity and commonsense. by F. M. Denton.

(प्रथम महाधिकार गा. ९१)

जगश्रेणी का मान ७ राजू होता है। राजू एक असंख्यात्मक दूरी का माप है। इसीलिये जगश्रेणी को दर्शाने के निमित्त ग्रंथकार ने प्रतीक की स्थापना की जो कि अंग्रेजी के Dash (—) के समान है। इस जगश्रेणी का घन करने पर लोकाकाश का घनफल प्राप्त होता है। जगश्रेणी का घन ग्रंथकार ने एक के नीचे एक स्थापित तीन आड़ी रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया है (≡)। इन तीन आड़ी रेखाओं का अर्थ तीन जगश्रेणी नहीं, किन्तु जगश्रेणी का घन होता है। परस्पर गुणन के लिये यह प्रतीक असाधारण है। ≡ १६ ख ख ख इस प्रतीक के स्पष्टीकरण का निम्न प्रकार से अनुमान किया जा सकता है। ≡ यह लोकाकाश की स्थापना है जो एक (१) है। लोकाकाश सहित पांच द्रव्य ६ हुए, जिसकी स्थापना १ के बाद है। तत्पश्चात् ख ख ख की स्थापना अनंतानंत अलोकाकाश के लिये है, जिसके बहुमध्य भाग में यह लोकाकाश स्थित है। बहुमध्य भाग के कथन से यह अर्थ निकलता है कि अनन्तानन्त[1] रूप में विस्तृत आकाश का मध्य निश्चित किया जा सकता है। तात्पर्य यह कि अनन्तानन्त एक बिलकुल ही अनिश्चित प्रमाण नहीं माना गया, जैसी कि आज के गणितज्ञों की धारणा है[2]।

(गा. १, ९३-१३२)

जगश्रेणी का प्रमाण प्रदर्शित करने के लिये [जो कि एक दिश माप (Linear Measure) है], अन्य ज्ञात मापों की परिभाषायें दी गई हैं। दूरत्व के माप के लिये उवसन्नासन्न नाम से प्रसिद्ध एक स्कंध अथवा उसके विस्तार को दूरत्व की इकाई (Unit) माना गया है। इस स्कंध की रचना नाना प्रकार के अनन्तानन्त परमाणु[3] द्रव्यों से होती मानी गई है। इस स्कंध के अविभागी अंश को भी परमाणु

---

१ इस सम्बन्ध में आक्सफोर्ड के प्रसिद्ध गणितज्ञ F. H. Bradley के विचार निम्न प्रकार हैं—

"We may be asked whether Nature is finite, or infinite······ if Nature is infinite, we have the absurdity of a something which exists, and still does not exist. For actual existence is, obviously, all finite. But, on the other hand, if Nature is finite, then Nature must have an end, and this again is impossible. For a limit of extension must be relative to an extension beyond, And to fall back on empty space will not help us at all. For this (itself a mere absurdity) repeats the dilemma in an aggravated form. But we can not escape the conclusion that Nature is infinite······. Every physical world is essentially and necessarily infinite."– The Encyclopedia Americana, Vol. 15, p. 121, Edn. 1944.

२ "With the intrusion of irrational numbers to disrupt the integral harmonics of the Pythagorean cosmos, a controversy that has raged of and on for well over two thousand years began : is the mathematical infinite a safe concept in mathematical reasoning, safe in the sense that contradictions will not result from the use of this infinite subject to certain prescribed conditions ? (The 'infinities' of religion and philosophy are irrelevant for mathematics)"—Development of Mathematics, E. T. Bell, Page 548.

३ ग्रंथकार द्वारा प्रतिपादित परमाणु का अर्थ अन्यथा न ले लिया जावे, तथैव श्री जी. आर. जैनी की Cosmology Old and New के ९४वें पृष्ठ पर दिया गया यह अवतरण पढ़ना लाभदायक होगा—

"It follows that a paramanu can not be interpreted and should not be inter-

कहा गया है और एक स्कंध के अर्द्ध भाग को देश तथा चतुर्थ भाग को प्रदेश कहा गया है। स्कंध के अविभागी अर्थात् जिसका और विभाग न हो सके ऐसे अंश को परमाणु कहा है (गाथा ९५)। यह परमाणु आकाश के जितने क्षेत्र को घेरे (रोके) उसको प्रदेश कहते हैं[1]।

अन्य मापों का निरूपण इस भांति है —

८ उवसन्नासन्न स्कंध	=	१ सन्नासन्न स्कंध
८ सन्नासन्न स्कंध	=	१ त्रुटिरेणु स्कंध
८ त्रुटिरेणु "	=	१ त्रसरेणु "
८ त्रसरेणु "	=	१ रथरेणु "
८ रथरेणु "	=	१ उत्तम भोगभूमि का बालाग्र
८ उ. भो. बा.	=	१ मध्यम भोगभूमि " "
८ म. भो. बा.	=	१ जघन्य " " "
८ ज. भो. बा.	=	१ कर्मभूमि का बालाग्र
८ कर्मभूमि के बालाग्र	=	१ लीक
८ लीकें	=	१ जूँ.
८ जूँ.	=	१ जौ
८ जौ	=	१ अंगुल

इस परिभाषा से प्राप्त अंगुल, सूची अंगुल (सूच्यंगुल) कहलाता है, जिसकी संदृष्टि (Symbol) २ मान ली गई है। यह अंगुल उत्सेध सूच्यंगुल भी कहा जाता है, जिसे शरीर की ऊँचाई आदि के प्रमाण जानने के उपयोग में लाते हैं।

पांच सौ उत्सेध अंगुलों का एक प्रमाणांगुल माना गया है जिससे द्वीप, समुद्र, नदी, कुलाचल आदि के प्रमाण लेते हैं।

एक और प्रकार का अंगुल, आत्मांगुल भी निश्चित किया गया है जो भरत और ऐरावत क्षेत्रों में होनेवाले मनुष्यों के अंगुल प्रमाणानुसार भिन्न भिन्न कालों में भिन्न भिन्न हुआ करता है। इसके द्वारा छोटी वस्तुओं (जैसे झारी, तोमर, चामर आदि) की संख्यादि का प्रमाण बतलाते हैं।

जहां जिस अंगुल की आवश्यकता हो, उसे लेकर निम्न लिखित प्रमाणों का उपयोग किया गया है —

६ अंगुल = १ पाद ; २ पाद = १ वितस्ति ; २ वितस्ति = १ हाथ ; २ हाथ = १ रिक्कू ; २ रिक्कू = १ दण्ड ; १ दण्ड या ४ हाथ = १ धनुष = १ मूसल = १ नाली ;

२००० धनुष = १ क्रोश ; ४ क्रोश = १ योजन.

---

preted as the atom of modern Chemistry, although originally the word was invented by the Greek philosopher Democritus (420 B.C.) to denote something which could not be sub-divided (atom—α, not; τεμνω I cut)........But since the atom of chemistry has now been proved to be a Conglomeration of proton, neutrons and electrons, I venture to suggest that Parmanus are really these elementary particles wich exist by themselves, or if at any future date a subelectron were to be discovered that should then be interpreted as the Paramanu of the Jains."

[1] प्रदेश को त्रिविम आकाश (Three Dimensional Space) की इकाई माना गया है जिसे पदार्थों का क्षेत्रमाप लेने के उपयोग में लाते हैं।

इसके आगे बढ़ने के पहिले यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इस योजन की दूरी आज-कल के रैखिक माप में क्या होगी?

यदि हम २ हाथ = १ गज मानते हैं तो स्थूल रूप से १ योजन ८०००००० गज के बराबर अथवा ४५४५.४५ मील (Miles) के बराबर प्राप्त होता है।

यदि हम १ कोश को आजकल के मील के समान ले, तो १ योजन ४००० मील (Miles) के बराबर प्राप्त होता है।

कर्मभूमि के बालाग्र का विस्तार आज-कल के सूक्ष्म यंत्रों द्वारा किये गये मापों के अनुसार १/५०० इंच से लेकर १/२०० इंच तक होता है। यदि हम इस प्रमाण के अनुसार योजन का माप निकाले तो उपर्युक्त प्राप्त प्रमाणो से अत्यधिक भिन्नता प्राप्त होती है। बालाग्र का प्रमाण १/५०० इंच मानने पर १ योजन ४९६४८.४८ मील प्रमाण आता है। कर्मभूमि का बालाग्र १/३०० इंच मानने से योजन ७४४७२.७२ मील के बराबर पाया जाता है। बालाग्र को १/२०० इंच प्रमाण मानने से योजन का प्रमाण और भी बढ़ जाता है।

ऐसी स्थिति में, हम १ योजन को ४५४५.४५ मील मानना उपयुक्त समझकर, इस प्रमाण को आगे उपयोग में लावेंगे।

(गा. १, ११६ आदि)

पल्य की संख्या निश्चित करने के लिये ग्रंथकार ने यहां बेलन (पृ. २१ पर आकृति-१ देखिये) का घनफल निकालने के लिये सूत्र दिया है जो $\pi r^2 h$ के ही समान है। प्रथम, लम्ब वर्तुलाकार ठोस बेलन के आधार का क्षेत्रफल निकालने के लिये उसकी परिधि को प्राप्त किया है। परिधि को प्राप्त करने के लिये व्यास को $\sqrt{१०}$ से गुणित किया है, अर्थात् $\frac{\text{परिधि}}{\text{व्यास}}$ की निष्पत्ति को $\sqrt{१०}$ माना है, जो ३.१६२२... के बराबर प्राप्त होता है। इसका उपयोग प्रायः सभी जैन शास्त्रों में जहां वृत्त क्षेत्र का गणित आया है, किया गया है। ईसा से सहस्रों वर्ष पूर्व भी इस प्रमाण के भिन्न भिन्न रूप उपयोग मे लाये गये। ईसासे १६५० वर्ष पूर्व मिश्र के आहम्स के पेपीरसमें इस प्रमाण को ३.१६०५ लिया गया है। भास्कराचार्य ने भी स्थूल मान के लिये $\sqrt{१०}$ उपयोग किया है[1]।

---

१ एच. टी. कालब्रुक ने अनुमान रूप से लिखा है —

"Brahmgupta gave $\sqrt{10}$ which is eqnal to 3·1622...... He is said to have obtained this value by inscribing in a circle of unit diameter regular polygons of 12, 24, 48 and 96 sides & calculating successively their perimeters which he found to be $\sqrt{9.65}$, $\sqrt{9.81}$, $\sqrt{9.86}$, $\sqrt{98.7}$ respectively and to have assumed that as number of sides is increased indefinitely, the perimeter would approximate to $\sqrt{10}$".—

ब्रह्मगुप्त (६२८ वां सदी) और भास्कर (११५० वीं सदी) की बीजगणित के अनुवाद में पृष्ठ ३०८ अध्याय १२ वा अनुच्छेद ४०.

ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रीसमें एंटीफोन के द्वारा ईसा से प्रायः ४०० वर्ष पूर्व दी गई Method of Exhaustion (निश्शेषण की रीति) से भारतीयों ने प्रेरणा ली है; क्योंकि, श्री सेनफोर्ड ने लिखा है—

"This was the method of exhaustion, due in all probability to Antiphon (C 430 B. C). This method was developed in connection with the 'quadrature' of the circle. It consisted of doubling & redoubling the number of sides of a regular inscribed polygon, the assumption being that, as this process continued, the

इस प्रकार प्राप्त करणी गत (irrational) राशि को ग्रंथकार ने $\frac{१९}{६}$ मान लिया है। त्रिज्या $\frac{१}{२}$ है, जिसका वर्ग $\frac{१}{४}$ प्राप्त हुआ। ऊँचाई १ योजन है। इस प्रकार घनफल $\frac{१९}{२४}$ प्राप्त किया गया है। भिन्न $\frac{१९}{२४}$ को लिखने के लिये आजकल के भिन्नो को लिखने की रीति का उपयोग नहीं होता था, वरन् $\frac{१९}{२४}$ का अर्थ $\frac{१९}{२४}$ लेते थे। इस माप के गड्ढे को विशिष्ट मेंढ़े के रोमों के अविभागी खंडों से भरें तो उन खंडों की संख्या जितनी होगी वह व्यवहार पल्य के रोमो की संख्या है। अथवा $\frac{१९}{२४}$ घन प्रमाण योजनों में जितने उत्तम भोगभूमि के बालाग्र होते हैं वह संख्या है। यहां सख्या निदर्शन के लिये रैखिकीय निरूपण प्रशंसनीय है।
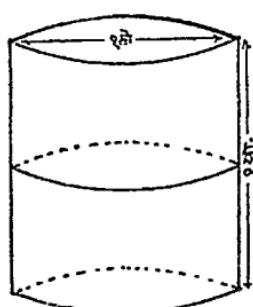
आकृति – १

(गा. १, १२३-२४)

इन रोमों की सख्या $= \frac{१९}{२४} (४)^3 \times (२०००)^3 \times (४)^3 \times (२४)^3 \times (५००)^3 \times (८)^{२१}$ प्राप्त होती है।

यह गणना करने के लिये ग्रंथकार ने अपने समय में प्रचलित व्यवहार गणित का उपयोग किया है। इस गुगन क्रिया को तीन पंक्तियों में लिखा गया है जिनमें परस्पर गुणन करना है। गुणन का कोई प्रतीक नहीं दर्शाया गया है, केवल एक खड़ी लकीर का उपयोग प्रत्येक संख्या के पश्चात् किया है जो गुगन का प्रतीक हो भी सकती है और नहीं भी। एक पंक्ति यह है —

ꣵ०।९६।५००।८।८।८।८।८।८।८।८। इत्यादि

ꣵ० इस प्रतीक का अर्थ यह प्रतीत होता है कि गुणन के पश्चात् प्रथम पक्ति मे तीन शून्य बढ़ा दिये जावें। इसका गुणन किया जाय तो वह $(१०००) \times ९६ \times ५०० \times (८)^८$ के सम होगा। ऐसी ऐसी तीन पंक्तिया ली गई हैं जिनका आपस मे गुणन करने से एक सख्या प्राप्त की है जिसे मूल ग्रंथ में दहाई अथवा स्थानार्हा पद्धति (Place value notation) का उपयोग करके शब्दों में और फिर अंकों मे लिखा गया है। शब्दों में सबसे पहिले इकाई के स्थान और तब दहाई, सैकड़े आदि के स्थानों का उल्लेख किया गया है।

व्यवहार पल्य से व्यवहार पल्योपम कालको निकालने के लिये व्यवहार पल्य राशि में १०० का गुणा करते हैं। जो राशि उत्पन्न होती है उतने वर्षों का एक व्यवहार पल्योपम काल माना गया है।

इसके पश्चात् उद्धार पल्य = (व्यवहार पल्य × असंख्यात करोड़ वर्षों के समयों की राशि)

---

difference in area between the circle and the polygon would at last be exhausted."
—"A Short History of Mathematics" p. 310.

श्री वेल ने अपना मत व्यक्त किया है—

"The Greeks called it exhaustion; Cavalieri in the seventeenth century called it the method of indivisibles and, as will appear in the proper place, got no closer to proof than the ancient Egyptions of at latest 1850 B. C. To us it is the theory of limits &, later, the integral calculus."

—Development of Mathematics p. 43, Edn. 1945.

जितना गुणनफल प्राप्त हो उतने समयों का एक उद्धार पल्योपम माना गया है। यह गुणनफल राशि उद्धार पल्य कही गई है।

और फिर अद्धा पल्य = (उद्धारपल्य राशि × असंख्यात वर्षों के समयों की राशि)

जितना गुणनफल प्राप्त हो उतने समयों का एक अद्धा पल्योपम माना गया है और इस गुणनफल राशि को अद्धा पल्य माना गया है। इसे पल्य भी कहा गया है। इसके आगे —

१० कोड़ाकोड़ी व्यवहार पल्योपम = १ व्यवहार सागरोपम

१० कोड़ाकोड़ी उद्धार पल्योपम = १ उद्धार सागरोपम

१० कोड़ाकोड़ी अद्धा पल्योपम = १ अद्धा सागरोपम

(गा. १, १३१)

अत्र सूच्यंगुलादि का प्रमाण निकालने के लिये अर्द्धच्छेद का उपयोग किया है। यह रीति गुणन को अत्यन्त सरल कर देती है। छेदागणित का[1] प्रचुर उपयोग नवीं सदी के वीरसेनाचार्य द्वारा धवला टोका में हुआ है। आजकल की सकेतना में[2] यदि किसी राशि य (x) के अर्द्धच्छेद प्राप्त करना हो तो–

य के अर्द्धच्छेद = $छे_{2}$य अथवा $Log_2 x$ होंगे।

वास्तव में किसी संख्या के अर्द्धच्छेद उस संख्या के बराबर होते हैं जितने बार कि हम उसका अर्द्धन कर सकें। उदाहरणार्थ, यदि हम $२^{अ}$ = य लें तो य के अर्द्धच्छेद अ होंगे।

यदि अद्धापल्य के अर्द्धच्छेद $Log_2 P$ से दर्शाया जाय, (जहां P अद्धापल्य है) तो

जगश्रेणी = [घनांगुल]$^{(Log_2 P / असंख्यात)}$

और सूच्यंगुल = [P]$^{(Log_2 P)}$

इस तरह से प्राप्त सूच्यंगुल का प्रतीक पहिले की भांति २ और जगश्रेणी का प्रतीक एक आड़ी रेखा (–) दिया है। जगश्रेणा का मान इस सूत्र से निकाला जा सकता है, पर प्रश्न उठता है कि

---

१ जैनाचार्यों के द्वारा उपयोग में लाये गये छेदागणित को यदि आजकल की Logarithms (Gk : logos = reckoning, arithmos = number) की गणित का सर्वप्रथम और कुछ दृष्टियों से सदृश रूप कहा जाय तो गलत न होगा। इस गणित के दो स्वतंत्र आविष्कारक माने जाते हैं— एक तो स्काटलैंड के बेरन नेपियर (१५५० – १६१७) और दूसरे प्रेग देश के जे. बर्जी (१५५२ – १६३२)। इस गणित के आविष्कार के विषय में गणित इतिहासकार सेनफोर्ड का मत है, "The discovery of logarithms, on the other hand, has long been thought to have been independent of contemporary work, and it has been characterised as standing 'isolated, breaking in upon human thought abruptly without borrowing from the work of other intellects or following known lines of mathematical thought."

—A short history of mathematics, P. 193.

२ आज की संकेतना में यदि बेरन नेपियर के अनुसार n के Logarithm के प्रमाण को दर्शाया जाय तो वह $10^7 Log_e (10^7 . n^{-1})$ होगा। यहाँ, प्रोफेसर प्लेफेअर के शब्दों में यह अभिव्यञ्जना स्पष्टतर हो जावेगी।

"The numbers which indicate (in the Arithmetical Progression) the places of the terms of the Geometrical Progression are called by Napier, the logarithm of those terms."—Bulletin of Calcutta Mathematical Society vol. VI. 1914-15.

असंख्यात वर्षों की राशि कितनी ली जाय, क्योंकि असंख्यात कोई विशिष्ट संख्या नहीं है, किन्तु सीमा रूप दो असंख्यात संख्याओं के बीच में रहनेवाली कोई भी संख्या है।

(गा. १, १३२)

इसके पश्चात् प्रतरांगुल = (सूच्यंगुल)^2 = ४ (प्रतीक रूपेण)

और घनागुल = (सूच्यंगुल)^3 = ६ (प्रतीक रूपेण)

इस स्पष्टीकरण से ज्ञात होता है कि लिये हुए प्रतीकों में साधारण गणित की क्रियायें उपयोग में नहीं लाई गईं, जैसे सूच्यंगुल का प्रतीक २, तो सूच्यगुल के घन का प्रतीक ८ नहीं, अपि तु ६ लिया गया। इसी प्रकार जगप्रतर का प्रतीक (=) और जगश्रेणी का घन लोक होता है, जिसका प्रतीक (≡) है। इस प्रकार की प्रतीक-पद्धति के विकास को हम जर्मनी के नेसिलमेन के शब्दों में Syncopated और Symbolic Algebra का मिश्रग कह सकते हैं।

इसके पश्चात् राजू[1] का प्रमाग = $\frac{\text{जगश्रेणी}}{७}$

१ Raju (=Chain, a linear astrophysical measure), is according to Colebrook, the distance which a Deva flies in six months at the rate of 2,057, 152 Yojanas in one क्षण, ie. instant of time.

—Quoted by von Glassnappin "Der Jainismus".

—Foot Note—Cosmology Old & New p. 105,

इस परिभाषा के अनुसार राजु का प्रमाण इस तरह निकाला जा सकता है— ६ माह = (५४००००) × ६ × ३० × २४ × ६० प्रति विपलाश या क्षण

क्योंकि, ६० प्रति विपलांश = १ प्रति विपल

६० प्रति विपल = १ विपल

६० विपल = १ पल

६० पल = १ घड़ी = २४ मिनिट (कला)

∴ १ मिनिट (कला) = ५४०००० प्रतिविपलांश

और १ योजन = ४५४५'४५ मील (या क्रोशक) लेने पर,

∴ ६ माह में तय की हुई दूरी = ४५४५'४५ × २०५७१५२ × ६ × ३० × २४ × ६० × ५४०००० मील

∴ १ राजू = (१'३०८६६६६२''') × (१०)^{२१} मील

श्री जी. आर. जैनी ने डॉ. आइंसटीन के संख्यात (Finite) लोक की त्रिज्या लेकर उसका घनफल निकाल कर लोक के घनफल (३४३ घन राजु) के बराबर रखकर राजु का मान १.४५ × (१०)^{२१} मील निकाला है जो उपर्युक्त राजु मान से लगभग मिलता है। पर डॉ. आइंसटीन के संख्यात फैलनेवाले लोक की कल्पना को पूर्ण मान्यता प्राप्त नहीं है— वह केवल कुछ उपधारणाओं के आधार पर अवलम्बित है। भिन्न २ कल्पनाओं के आधार पर भिन्न २ लोकों (universes) की कल्पनायें कई वैज्ञानिकों ने की हैं।

रिसर्च स्कालर पंडित माधवाचार्य ने राजू की परिभाषा निम्न तरह से कही है— "एक हजार भार का लोहे का गोला, इंद्रलोक से नीचे गिरकर ६ मास में जितनी दूर पहुँचे उस सम्पूर्ण लम्बाई को एक राजू कहते हैं।"—अनेकान्त vol. 1, 3.

इस तरह दी गई परिभाषा से राजू की गणना नहीं हो सकती, क्योंकि इन्द्रलोक से वस्तुओ (Bodies) के गिरने का नियम ज्ञात नहीं है।

प्रतीक रूप में राजू को (७) लिखा जाता है।

(गा. १, १४९–५१)

वर्ग आधार पर स्थित त्रिलोक के चित्र के लिये आकृति–२ देखिये—
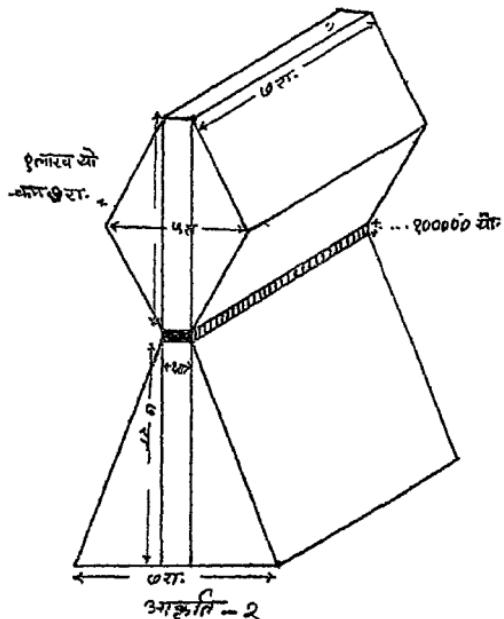
यहां, ऊर्ध्व लोक,

मध्यलोक (काले रंग द्वारा प्रदर्शित) १००००० यो. × १रा. × ७रा.,

एवं अधोलोक स्पष्ट है।

बाहल्य ७ रा. अर्थात् ७ राजु है। ऊँचाई १४ राजु है। ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई ७ रिण जो. १००००० लिखा है। अर्थात् ग्रंथकार के समय में ऋण के लिये कोई प्रतीक नहीं रहा होगा, ऐसा प्रतीत होता है। ऋण और धन के लिये क्रमशः आड़ी रेखा (–) और (+) प्रतीकों के आविष्कार का श्रेय जर्मनी के जे. विडमेन (१४८९) को है। ग्रंथकार ने दूसरी जगह रिण के लिये रि. का उपयोग भी किया है। धवलाकार वीरसेन ने मिश्र शब्द के लिये + प्रतीक दिया है[२]।

(गा. १, १६५)

अधोलोक का घनफल निकालने के लिये लम्ब संक्षेत्र (Right Prism) का घनफल निकालने का सूत्र दिया है, जिसका आधार समलम्ब चतुर्भुज है। वह सूत्र है— (आधार का क्षेत्रफल × संक्षेत्र की ऊँचाई) = संक्षेत्र का घनफल। आधार का क्षेत्रफल निकालने का सूत्र दिया गया है :

$$\left[\frac{\text{मुख + भूमि}}{२} \times (\text{इन दो समांतर रेखाओं की लम्ब दूरी})\right]$$

---

१ मिस्र देश के गिज़े में बने हुए महास्तूप (Great Pyramid) से यह लोकाकाश का आकार किंचित् समानता रखता हुआ प्रतीत होता है। विशेष सहसम्बन्ध के विवरण के लिये सन्मति सन्देश, वर्ष १, अंक १३ आदि देखिये।

२ षट्खंडागम पुस्तक ४, पृष्ठ ३३०, ई. स. १९४२.

यह सूत्र आज भी उपयोग में लाया जाता है।

(गा. १, १६६)

अधोलोक का घनफल $= \frac{4}{7} \times$ पूर्ण लोक का घनफल[1]।

(गा. १, १६९)

ऊर्ध्वलोक का घनफल भी इसी विधि के आधार पर दो वेत्रासनों में विदीर्ण कर निकाला गया है।

(गा. १, १७६-७९)
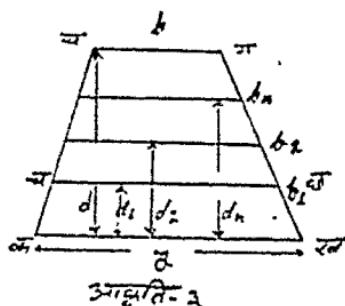
इन गाथाओं में[2] समानुपाती भागों के सिद्धान्त का उपयोग है[3]।

आकृति २ में क ख ग घ एक समलम्ब चतुर्भुज है जिसमें कख और गघ समांतर हैं तथा कघ और खग बराबर हैं। कख का माप a और घग का माप b है। कख भूमि और घग मुख है।

यदि कख से उसी के समांतर d_1 ऊँचाई पर मुख की प्राप्ति करना हो तो सूत्र दिया है,

$a - \left[\frac{a-b}{d}\right] d_1 = b_1$ यहाँ b_1 मुख है।

इसी प्रकार, $a - \left[\frac{a-b}{d}\right] d_2 = b_2$ और साधारण रूप से,

१ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ११, १०९-१०.

२ ये विधियाँ और नियम जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति में भी उल्लेखित हैं। १।२७; ४।२९; १०।२१.

३ समानुपात के सिद्धान्त के आविष्कार के सम्बन्ध में निम्नलिखित उल्लेखनीय है,

"It is true that we have no positive evidence of the use by Pythagoras of proportions in geometry, although he must have been conversant with similar figures, which imply some theory of proportion".

पुनः "The anonymous author of a scholium to Euclid's Book V, who is perhaps Proclus, tells us that 'some say' that this Book, containing the general theory of proportion which is equally applicable to geometry, arithmetic, music and all mathematical science, 'is the discovery of Eudoxus, the teacher of Plato.' 3—Heath, Greek Mathematics, Vol. 1, pp. 85 & 325, Edn. 1921.

साथ ही, कम से कम २१३ ईस्वी पूर्व के अभिलेखों के आधार पर, इस सम्बन्ध में चीनी अभिज्ञान पर कूलिज का अभिमत यह है,

"The Chinese, be it noted, were familiar with the properties of similar triangles and invented many problems connected with them".

—Coolidge, A History of Geometrical Methods, p. 22, Edn. 1940

$a - \left[\frac{a-b}{d}\right] d_n = b_n$, जहाँ d_n कोई भी इच्छित ऊँचाई है, और मुख b_n है।
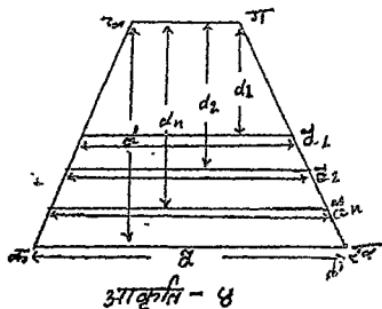
इसी प्रकार आकृति–४ में वही आकृति है और घग के समांतर किसी विवक्षित निचाई पर भूमि निकालने का साधारण सूत्र लिखा-जा सकता है।

$$b + \left[\frac{a-b}{d}\right] d_n = a_n.$$

इस प्रकार, भूमि ७ राजु (१ जगश्रेणी) तथा मुख १ राजु लेकर ग्रंथकार ने ऊँचाई सात राजु को १ राजु प्रमाण से विभक्त कर सात पृथ्वियाँ प्राप्त कर उनके मुख और भूमि उपर्युक्त सूत्र से निकाले हैं। फिर, उनका घनफल अलग अलग लम्ब संक्षेत्र (जिसका आधार समलम्ब चतुर्भुज है) सूत्र द्वारा निकाला है। इस रीति से कुल घनफल का योग १९६ घन राजु बतलाया है।

(गा. १, १८०–८३)

अधोलोक का घनफल एक और रीति से निकालकर बतलाते हैं। आकृति ५ में लोक के अंत अर्थात् क ख से दोनों पार्श्वभागों अर्थात् क घ और ख ग की दिशाओं से, क्रमशः ३ राजु, २ राजु और १ राजु भीतर की ओर प्रवेश करने पर उनकी क्रमशः ७ राजु, $\frac{14}{3}$ राजु और $\frac{7}{3}$ राजु ऊँचाईयाँ प्राप्त होती हैं।

इस प्रकार यह क्षेत्र, भिन्न भिन्न आकृतियों के क्षेत्र में विभक्त हो जाता है। ये आकृतियाँ त्रिभुज और समलम्ब चतुर्भुज हैं, तथा मध्य क्षेत्र आयत ज झ ग घ है। ऐसे क्षेत्रों के क्षेत्रफल निकालने के लिये दो सूत्र दिये गये हैं[१]।

त्रिकोण क च थ का क्षेत्रफल निकालने के लिये समलम्ब चतुर्भुज का क्षेत्रफल निकालने के उपयोग में लाये जानेवाले सूत्र का उपयोग है[२]।

---

१ इस सम्बन्ध में मिश्र में प्रचलित विधि के विषय में यह विवादास्पद मत है—

"The triangles in their pictures look like long and undernourished isosceles triangles, and some commentators have assumed that the Egyptians believed that the area of an isosceles triangle is one-half the product of two unequal sides."

—Coolidge, A History of Geometrical Methods, p 10, Edn. 1940.

२ इस सूत्र को महावीराचार्य ने गणितसारसंग्रह के सातवे अध्याय में ५० वीं गाथा द्वारा निरूपित किया है।
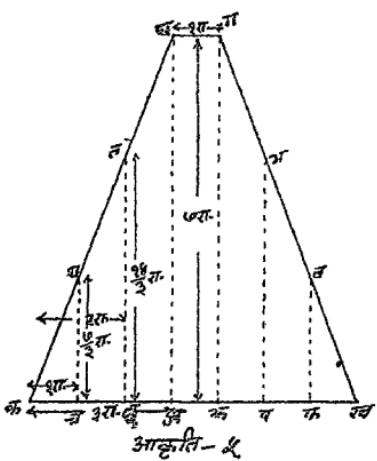
यहाँ भुजा क च मान ली जाय तो सम्मुख भुजा शून्य होगी और ऊँचाई च थ होगी, इसीलिये इस समकोण त्रिभुज का क्षेत्रफल $=\left(\frac{१+०}{२}\right)\frac{७}{३}=\frac{७}{६}$ वर्ग राजु प्राप्त होता है। दूसरा सूत्र इस प्रकार है—लम्ब बाहु युक्त क्षेत्र क च थ है। यहाँ व्यास क च तथा लम्ब बाहु च थ मान लेने पर, क्षेत्रफल $=$ लम्बबाहु $\times\frac{\text{व्यास}}{२}$ होता है।

शेष क्षेत्रों के लिये "भुज-पडिभुजमिलिदद्धं......" सूत्र का प्रयोग किया जा सकता है।

इस प्रकार क च थ प्रथम अभ्यंतर क्षेत्र, च छ त थ द्वितीय, और छ ज घ त तृतीय अभ्यंतर क्षेत्र हैं जिनके क्षेत्रफल क्रमशः $\frac{७}{६}$, $\frac{७}{२}$ और $\frac{३५}{६}$ वर्ग राजु हैं। चूँकि प्रत्येक का बाहल्य ७ राजु है इसलिये इन तीनों क्षेत्रों का (जो बाहल्य लेने से साद्र सक्षेत्रों (लम्ब सक्षेत्र) में बदल जाते हैं उनका) घनफल क्रमशः $८\frac{१}{६}$, $२४\frac{१}{२}$ और $४०\frac{५}{६}$ घन राजु होता है। इसी तरह, पूर्व पार्श्व ओर से लिये गये क्षेत्रों का घनफल होता है। शेष मध्य क्षेत्र का घनफल $१\times७\times७=४९$ घन राजु होता है। सबका योग करने पर १९६ घन राजु अधोलोकका घनफल प्राप्त होता है।

(गा. १, १८४-१९१)

अधोलोक का घनफल निकालने के लिये तीसरी विधि भी है (आकृति-६ देखिये)।

आकृति – ६.
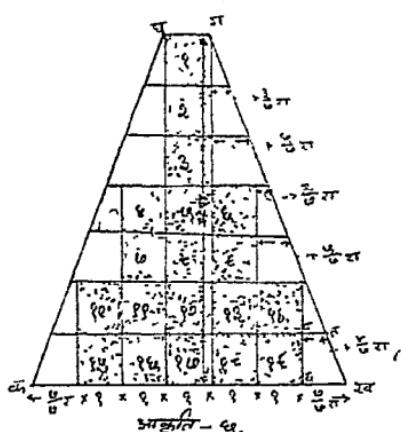
इस प्रशंसनीय विधि में क्षेत्र क ख ग घ में से १ वर्ग राजुवाले १९ क्षेत्रों को अलग निकाल कर शेष आकृतियों का क्षेत्रफल निकाला गया है और अंत में प्रत्येक के ७ राजु बाहल्य से उन्हें गुणित कर अंत में सबका योग कर अधोलोक का घनफल निकाला गया है। आकृति में छाया वर्ग अलग दर्शाये गये हैं और बची हुई भुजायें समानुपात के प्रमेय द्वारा निकाल कर क्रमशः ऊपर से दोनों पार्श्वों मे $\frac{३}{७}$, $\frac{६}{७}$, $\frac{२}{७}$, $\frac{५}{७}$, $\frac{१}{७}$, $\frac{४}{७}$ तथा अंत में $\frac{७}{७}$ या १ राजु प्राप्त की गई हैं। लोक के अंत की आकृति ख त थ द का क्षेत्रफल $=$ $[\{(\frac{४}{७}+\frac{७}{७})\div२\}\times$ दथ $]$ वर्ग राजु है, और घनफल $=\{(\frac{४}{७}+\frac{७}{७})\div२\}\times१\times७$ घन राजु है। इसी प्रकार, समस्त शेष क्षेत्रों का घनफल, ६१ घन राजु प्राप्त होता है। इसमें, १९ वर्ग क्षेत्रों का घनफल $१९\times७=१३३$ घन राजु जोड़ने पर, कुल १९६ घन राजु, अधोलोक का घनफल प्राप्त होता है।

(गा. १, १९३–९९)

समानुपात के नियम के अनुसार भूमि से १$\frac{१}{२}$, १$\frac{१}{२}$, $\frac{१}{२}$,...... आदि ऊँचाइयों पर उपर्युक्त नियम द्वारा विभिन्न मुखों के प्रमाण निकाले गए हैं जो आकृति–७ में दिये गये हैं। इसी प्रकार, यहाँ समलम्ब चतुर्भुज आधारवाले ९ लम्ब संक्षेत्र प्राप्त होते हैं जिनके घनफलों का योग करने पर ऊर्ध्व लोक का घनफल १४७ घन राजु प्राप्त होता है।

आकृति – ७

आकृति – ८ अ
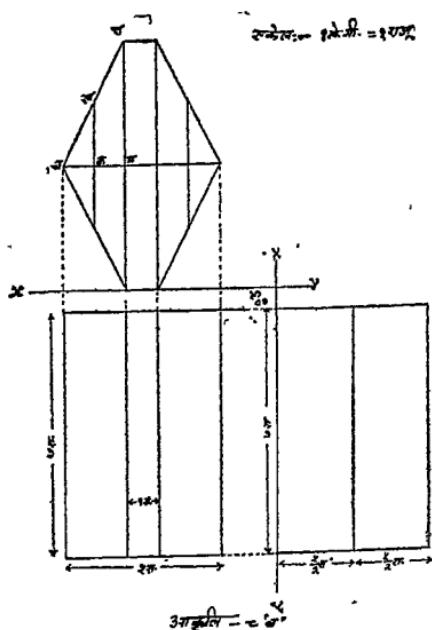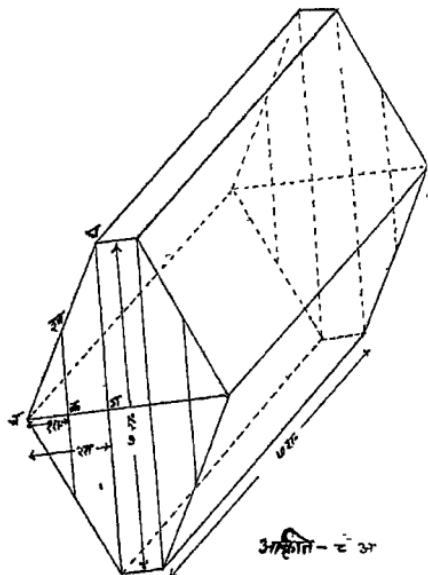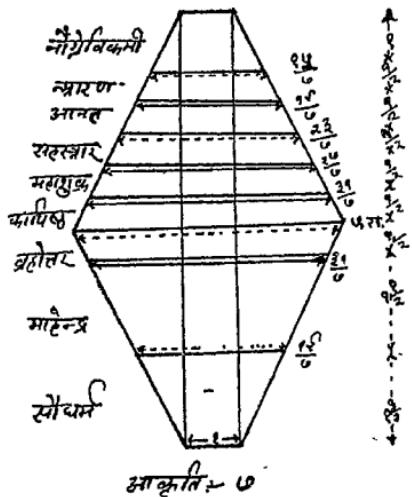
(गा. १, २००–२०२)

(आकृति–८ में) पूर्व और पश्चिम से क्रमशः १ राजु और २ राजु ब्रह्म स्वर्ग के उपरिम भाग से प्रवेश करने पर स्तम्भोत्सेध क्रमशः क ख = $\frac{७}{४}$ राजु और ग घ = $\frac{७}{२}$ राजु प्राप्त होते हैं। शेष प्रक्रिया इस प्रकार है कि च क ख क्षेत्र का क्षेत्रफल

$= १ \times \frac{७}{४} \times \frac{१}{२}$

$\therefore$ च क ख संक्षेत्र का घनफल

$= १ \times \frac{७}{४} \times \frac{१}{२} \times ७ = \frac{४९}{८} = ६\frac{१}{८}$ घन राजु

इसी तरह संक्षेत्र क ख घ ग का घनफल

$= \left[\frac{\frac{७}{४} + \frac{७}{२}}{२}\right] \times १ \times ७$

$= १८\frac{३}{८}$ घन राजु

= ३ (संक्षेत्र च क ख)

इनके योग का चौगुना करके उसमें अवशेष मध्यभाग का घनफल जोड़ कर ऊर्ध्व लोक का घनफल निकाला गया है।

आकृति – ८ ब

(गा. १, २०३-१४)

आकृति -९
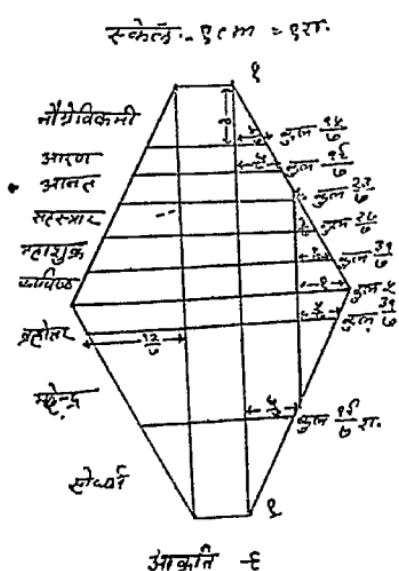
आकृति-९ में ऊर्ध्व लोक को पूर्व पश्चिम से, ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के ऊपर से क्रमशः १ और २ राजु प्रवेश कर स्तंभों द्वारा विभक्त कर दिया है। इस प्रकार विभक्त करने से बाह्य छोटी भुजायें चित्र में बतलाये अनुसार शेष रहती है। निम्न लिखित स्पष्टीकरण से, इस छेदविधि द्वारा निकाला गया ऊर्ध्व लोक का घनफल स्पष्ट हो जावेगा।

(प्रत्येक क्षेत्र का बाहल्य ७ राजु है)

सौधर्म के त्रिभुज (बाह्य क्षेत्र) का घनफल

$=\frac{१}{२}\times\frac{६}{७}\times\frac{३}{२}\times ७ = ४\frac{१}{२}$ घन राजु।

सानत्कुमार के बाह्य और अभ्यन्तर क्षेत्रों का घनफल

$=(\frac{१२}{७}+\frac{६}{७})\frac{१}{२}\times ७\times\frac{३}{२}=\frac{२७}{२}=१३\frac{१}{२}$ घनराजु।

और इसके बाह्य त्रिभुज का घनफल =

$\frac{५}{७}\times\frac{१}{२}\times\frac{५}{४}\times ७=\frac{२५}{८}=३\frac{१}{८}$ घन राजु।

(यहाँ, $\frac{५}{४}$ राजु उत्सेध प्राप्त करना उल्लेखनीय है जो माहेन्द्र के तल से $\frac{१}{४}$ रा. ऊपर से लेकर ब्रह्मोत्तर के तल तक सीमित है।)

$\therefore$ अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल $=\frac{२७}{२}-\frac{२५}{८}=\frac{८३}{८}$ घन राजु।

ब्रह्मोत्तर क्षेत्र का घनफल $=\frac{१}{२}(\frac{५}{७}+१)\times\frac{१}{२}\times ७ = ३$ घन राजु।

यही, कापिष्ठ क्षेत्र का भी घनफल है।

महाशुक्र का घनफल $=(\frac{५}{७}+\frac{३}{७})\frac{१}{२}\times\frac{१}{२}\times ७ = २$ घनराजु।

सहस्रार का बाह्य घनफल $=\frac{१}{२}(\frac{३}{७}+\frac{१}{७})\times\frac{१}{२}\times ७ = १$ घनराजु।

आनत का बाह्य और अभ्यंतर घनफल $=(\frac{८}{७}+\frac{६}{७})\frac{१}{२}\times\frac{१}{२}\times ७=\frac{७}{२}$ घनराजु।

,, बाह्य घनफल $=\frac{१}{७}\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{४}\times ७=\frac{१}{८}$ घनराजु।

$\therefore$ अभ्यंतर का घनफल $=\frac{७}{२}-\frac{१}{८}=\frac{२७}{८}=३\frac{३}{८}$ घनराजु।

आरण का घनफल $=(\frac{६}{७}+\frac{४}{७})\frac{१}{२}\times\frac{१}{२}\times ७=\frac{५}{२}$ घनराजु।

नौ ग्रैवेयकादि का घनफल $=\frac{४}{७}\times\frac{१}{२}\times १\times ७=\frac{४}{२}$ घनराजु।

पूर्वोक्त घनफलों का योग = ३५ घनराजु है, इसलिये पूर्व पश्चिम दोनों ओर के ऐसे क्षेत्रो का घनफल ७० घनराजु होता है। इनके सिवाय, अर्द्ध घन राजुओं (दल घनराजुओं) का घनफल $= २\times ४\times[\frac{१}{२}\times १\times ७] = २८$ घनराजु और मध्यम क्षेत्र (त्रसनाली) का घनफल $= १\times ७\times ७ = ४९$ घनराजु।

$\therefore$ कुल घनफल $= २८+४९+७० = १४७$ घनराजु।

यहाँ सांद्र घन क्षेत्रों को समान घनफलवाले अन्य नियमित सांद्र क्षेत्रों में बदलकर, तत्कालीन क्षेत्रमिति और सांद्र रैखिकी का प्रदर्शन किया गया है। सम्पूर्ण लोक को आठ प्रकार के समान घनफल (३४३ घन राजु) वाले सांद्रों (Solids) में परिणत किया है। इनमें से जिन क्षेत्रों का रूप चित्रों द्वारा प्रदर्शित किया गया है, वे अनुमान से बनाये गये हैं, क्योंकि मूल गाथा में इन क्षेत्रों के केवल नाम दिये गये हैं, चित्र नहीं।
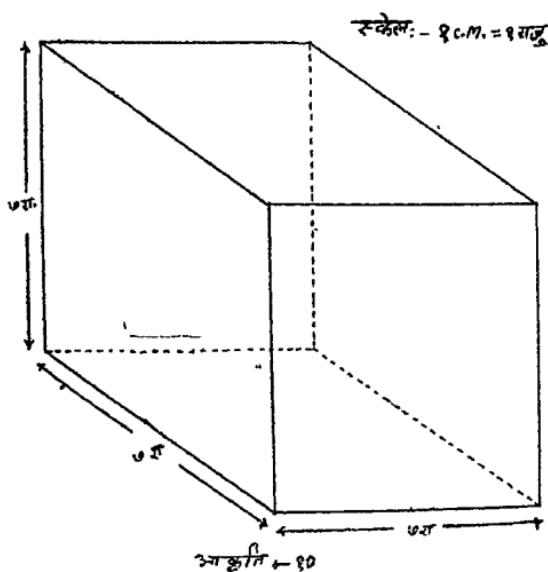
आकृति :- १०

(१) सामान्य लोक— इसका वर्णन पहिले ही दे चुके हैं। चित्रण के लिये आकृति–२ देखिये।

(२) घनाकार सांद्र— यह आकृति–१० में दर्शाया गया है। इसका घनफल= ७ × ७ × ७ = ३४३ घनराजु है।
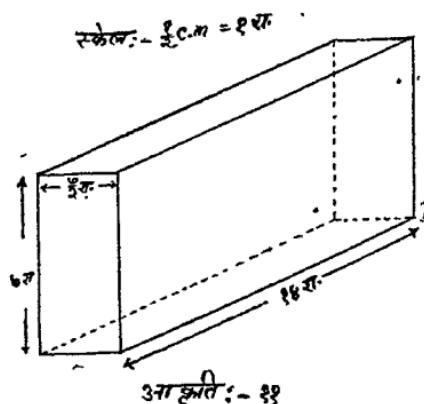
आकृति :- ११

(३) तिर्यक्आयत चतुरस्र या Cuboid (आयतज)— इसका घनफल $३\frac{१}{२}$ × ७ × १४ या ३४३ घन राजु है। (आकृति ११ देखिये)

(गा. १, २१७-१९)

(४) यवमुरज क्षेत्र—(आकृति-१२ देखिये) । यह आकृति, क्षेत्र के उदग्र समतल द्वारा प्राप्त छेद (Vertical Section) है । इसका विस्तार ७ राजु यहाँ चित्रित नहीं है ।

यहाँ मुरज का क्षेत्रफल $\{(\frac{७}{२}$ रा $+$ १ रा$) \div २\} \times$ १४ रा $= \{\frac{९}{२} \times \frac{१}{२}\} \times १४$

$= \frac{९}{२} \times \frac{७}{१} = \frac{६३}{२}$ वर्ग राजु

आकृति - १२

इसलिए, मुरज का घनफल $= \frac{६३}{२} \times ७ = \frac{४४१}{२}$ घन राजु $=$ २२० $\frac{१}{२}$ घन राजु ।
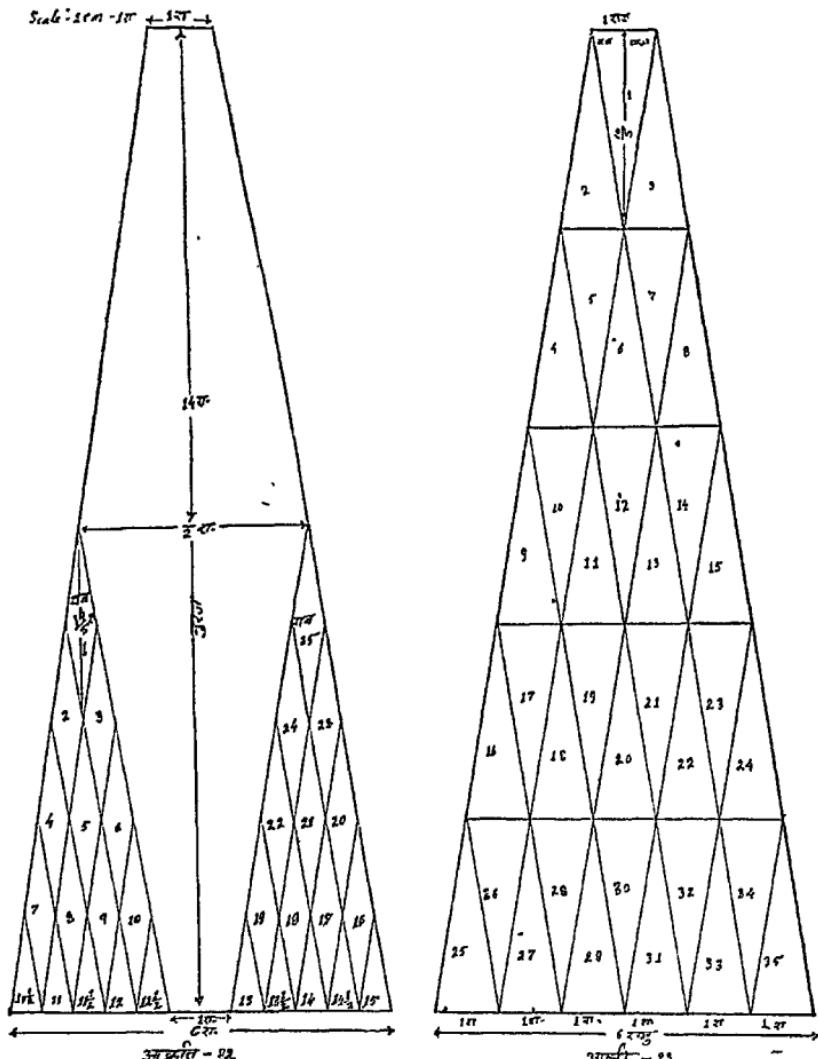
एक यव का क्षेत्रफल ($\frac{१}{२}$ रा. $\div$ २) $\times \frac{१४}{५}$ राजु $= \frac{१}{४} \times \frac{१४}{५} = \frac{७}{१०}$ वर्ग राजु,

इसलिये, २५ यव का क्षेत्रफल $= \frac{७}{२} \times \frac{५}{१} = \frac{३५}{२}$ वर्ग राजु;

इस प्रकार २५ यव का घनफल $= \frac{३५}{२} \times \frac{७}{१} = \frac{२४५}{२}$ घन राजु $=$ १२२$\frac{१}{२}$ घन राजु ।

(५) यवमध्य क्षेत्र—(पृ. ३१ पर आकृति–१३ देखिये)। यह आकृति, क्षेत्र के उदग्र समतल द्वारा प्राप्तछेद (Vertical section) है। इसका आगे-पीछे (उत्तर-दक्षिण) विस्तार ७ राजु यहाँ चित्रित नहीं है।

यहाँ, यवमध्य का क्षेत्रफल (१ ÷ २) $\times \frac{१४}{५} = \frac{७}{५}$ वर्ग राजु,

इसलिये, ३५ यवमध्य का क्षेत्रफल $= \frac{७}{५} \times \frac{३५}{१} =$ ४९ वर्ग राजु;

इस प्रकार, ३५ यवमध्य का घनफल = ४९ × ७ घन राजु = ३४३ घन राजु;

और, एक यवमध्य का घनफल $= \frac{३४३}{३५} = १९\frac{३}{५}$ घन राजु।

इस गाथा के उपरान्त दिया गया निदर्शन $\frac{\equiv}{३५}$ | ☰ | ☰ | इस चित्र से ही स्पष्ट है। $\frac{\equiv}{३५}$ एक यवमध्य का घनफल है तथा ☰ | ☰ का अर्थ यह है कि १४ राजु ऊँचाई को पाँच बराबर भागों में विभक्त कर ३५ यवमध्यों को प्राप्त करना है।

(गा. १, २२०)

(६) मन्दराकार क्षेत्र—(आकृति–१४ देखिये)। इस क्षेत्र की भूमि ६ राजु, मुख १ राजु, ऊँचाई १४ राजु, और मुटाई ७ राजु ली गई है।

आकृति–१४

पुनः, समानुपात के सिद्धान्तों के द्वारा क्रमशः भूमि से $\frac{४}{३}$, $\frac{४}{३}+\frac{२}{३}+\frac{३}{२}$, $\frac{४}{३}+\frac{२}{३}+\frac{३}{२}$, $\frac{४}{३}+\frac{२}{३}+\frac{३}{२}+\frac{३१}{६}$, $\frac{४}{३}+\frac{२}{३}+\frac{३}{२}+\frac{३१}{६}+\frac{३}{२}$ और अंत में $\frac{४}{३}+\frac{२}{३}+\frac{३}{२}+\frac{३१}{६}+\frac{३}{२}+\frac{२३}{६}$ राजुओं की ऊँचाईयों पर मुखों के विस्तार निकाले हैं। ये ऊँचाइयाँ साधित करने पर, क्रमशः $\frac{४}{३}$, २, $\frac{७}{२}$, $\frac{५२}{६}$, $\frac{६१}{६}$ और $\frac{८४}{६}$ अर्थात् १४ राजु प्राप्त होती हैं। [यहाँ २२१ से २२४ वीं गाथाओं का स्पष्टीकरण बाद में करेंगे।]

ऐसे मन्दाकार क्षेत्र का घनफल $= \frac{६+१}{२} \times$ १४ × ७ = ३४३ घन राजु है। दूसरी रीति से, इस क्षेत्र को ऊपर दी गई ऊँचाइओं पर विभक्त करने से ६ क्षेत्र प्राप्त होते हैं।
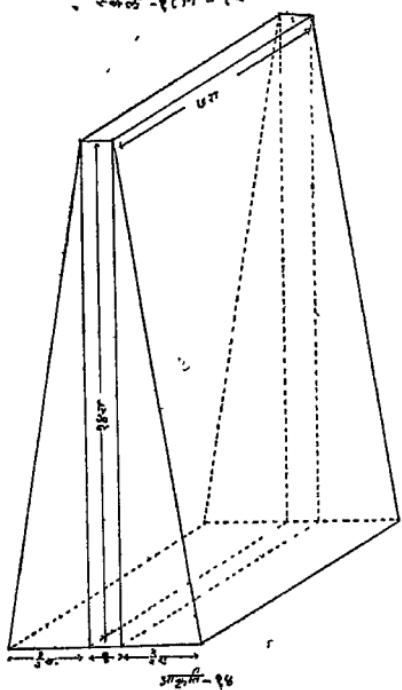
जब ऊँचाई $\frac{४}{३}$ राजु ली जाती है तो उस ऊँचाई पर व्यास उपर्युक्त नियम के अनुसार $६-[\frac{६-१}{२४}]\times\frac{४}{३}=\frac{११६}{२१}$ राजु प्राप्त होता है। इसी प्रकार जब ऊँचाई $\frac{६}{३}$ या २ राजु ली जाती है तो विस्तार $६-\{(\frac{६-१}{२४})\times२\}$ अर्थात् $\frac{३७}{७}$ या $\frac{१११}{२१}$ राजु प्राप्त होता है। इस प्रकार, इसी विधि से उन भिन्न भिन्न ऊँचाइयों पर विस्तार क्रमशः $\frac{३९९}{८४}$, $\frac{२४४}{८४}$, $\frac{१९९}{८४}$, $\frac{८४}{८४}$ प्राप्त होते हैं। अन्तिम माप, $\frac{८४}{८४}$ अर्थात् १ राजु, मंदराकार क्षेत्र का मुख है और भूमि $\frac{१२६}{२१}$ या ६ राजु है। इस प्रकार प्राप्त विभिन्न क्षेत्रों के घनफल निम्न लिखित रीति से प्राप्त करते हैं।

प्रथम क्षेत्र का घनफल $=\frac{१}{२}\left[\frac{१२६}{२१}+\frac{११६}{२१}\right]\times\frac{४}{३}\times७=\frac{४८४}{९}$ घनराजु।

द्वितीय क्षेत्र का घनफल $=\frac{१}{२}\left[\frac{११६}{२१}+\frac{१११}{२१}\right]\times\frac{३}{३}\times७=\frac{२२७}{९}$ घनराजु।

तृतीय क्षेत्र का घनफल $=\frac{१}{२}\left[\frac{१११}{२१}+\frac{३९९}{८४}\right]\times\frac{३}{२}\times७=\frac{८४३}{१६}$ घनराजु।

चतुर्थ क्षेत्र का घनफल $=\frac{१}{२}\left[\frac{३९९}{८४}+\frac{२४४}{८४}\right]\times\frac{३१}{६}\times७=\frac{१९९३३}{१४४}$ घनराजु।

पंचम क्षेत्र का घनफल $=\frac{१}{२}\left[\frac{२४४}{८४}+\frac{१९९}{८४}\right]\times\frac{३}{२}\times७=\frac{४४३}{१६}$ घनराजु।

षष्ठम क्षेत्र का घनफल $=\frac{१}{२}\left[\frac{१९९}{८४}+\frac{८४}{८४}\right]\times\frac{२३}{६}\times७=\frac{६५०९}{१४४}$ घनराजु।

इन सबका योग ३४३ घनराजु प्राप्त होता है। वह प्रमाण सामान्य लोक के घनफल के तुल्य है।

तृतीय और पंचम क्षेत्र के घनफलों को प्राप्त करने की विधि मूल गाथा से नहीं मिलती है। इसका स्पष्टीकरण करते हैं (आकृति–१६ 'अ', 'ब' देखिये)—

आकृति–१६ 'अ' आकृति–१६ 'ब' आकृति–१६ 'स'
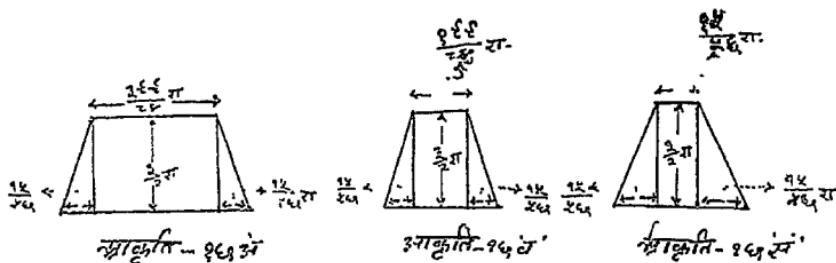
तृतीय क्षेत्र और पंचम क्षेत्र मे से अंतर्वर्ती करणाकार क्षेत्रों को अलग कर, एक जगह स्थापित करने से, निम्न लिखित आकृति प्राप्त होती है,

जिसका घनफल $\frac{१}{२}\left[\frac{१५}{५६}+\frac{४५}{५६}\right]\times\frac{३}{२}\times७=\frac{४५}{८}$ घनराजु प्राप्त होता है। आकृति–१६ 'स' देखिये।

इस प्रकार ग्रंथकार ने तृतीय और पंचम क्षेत्रों में से चार ऐसे त्रिभुजों को (जिनकी : $\frac{१५}{५६}$ योजन लम्बाई और $\frac{३}{२}$ योजन ऊँचाई हैं) निकाल कर, अलग से, मंदराकार क्षेत्र मे सबसे ऊपर स्थापित किया है। तृतीय क्षेत्र में से जब $२\times(\frac{१५}{५६}\times\frac{३}{२})\times\frac{१}{२}\times७$ अर्थात् $\frac{४५}{१६}$ घन राजु घटाते हैं तो $\frac{८४३}{१६}-\frac{४५}{१६}$

अर्थात् $\frac{३११}{८}$ घन राजु बच रहता है। यही प्रमाण मूलगाथा में दिया गया है[१]। इसी प्रकार पंचम क्षेत्र में से $२(\frac{१५}{५६}\times\frac{३}{२})\times\frac{१}{२}\times७$ अर्थात् $\frac{४५}{१६}$ घन राजु घटाते हैं तो मूलगाथानुसार $\frac{४४३}{१६}-\frac{४५}{१६}$ अर्थात् $\frac{१९९}{८}$ घन राजु प्राप्त होते हैं। अंतिम उपरिम भाग में स्थित क्षेत्र का घनफल $\frac{४५}{८}$ रहता है। इस प्रकार, कुल घनफल ३४३ घन राजु प्राप्त किया गया है।

(गा. १, २२०–२२१)
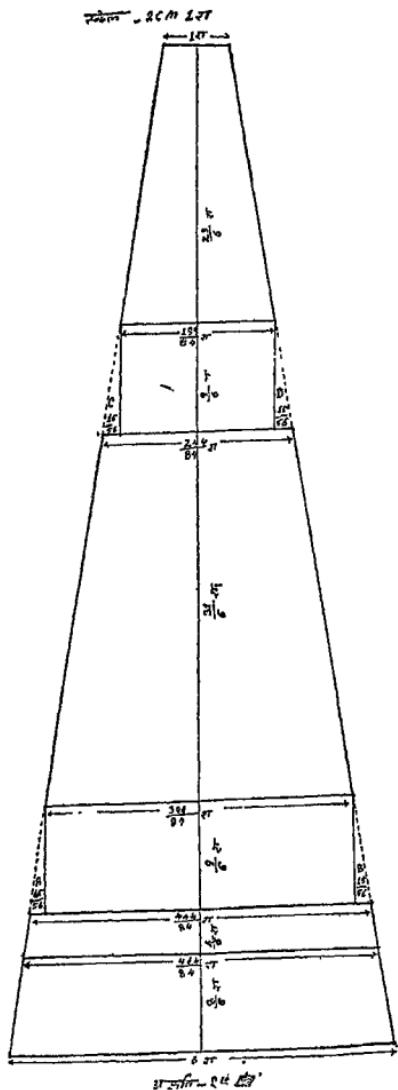
यहां आकृति–१५ मन्दराकार क्षेत्र का उदग्र छेद (vertical section) है। त्रिभुज क्षेत्र A. B. C. D. से यह चूलिका बनी है, प्रत्येक त्रिभुज क्षेत्र का आधार $\frac{१५}{५६}$ राजु तथा ऊँचाई $\frac{३}{२}$ राजु है।

चूलिका

$\frac{१५}{५६}$ राजु

$\frac{४५}{५६}$ राजु
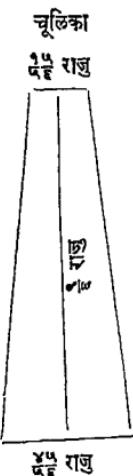
इन चार त्रिभुज क्षेत्रों में से तीन क्षेत्रों के आधार से चूलिका का आधार ($\frac{१५}{५६}\times३=\frac{४५}{५६}$) बना है और एक त्रिभुज क्षेत्र के आधार से चूलिका की चोटी की चौड़ाई $\frac{१५}{५६}$ राजु बनी है।

---

१ मूल में दिये हुए प्रतीकों (२२० वीं गाथा) का स्पष्टीकरण इस तरह से हो सकता है। $\frac{३}{१४}-\frac{१५}{३९२}$ का अर्थ $\frac{३}{१४}\times७$ ऊँचाई और $\frac{१५}{३९२}\times७$ आधार है। समलम्ब चतुर्भुज के चित्र का

(शेष पृ. ३५ पर देखिये)

(गा. १, २३२-३३)
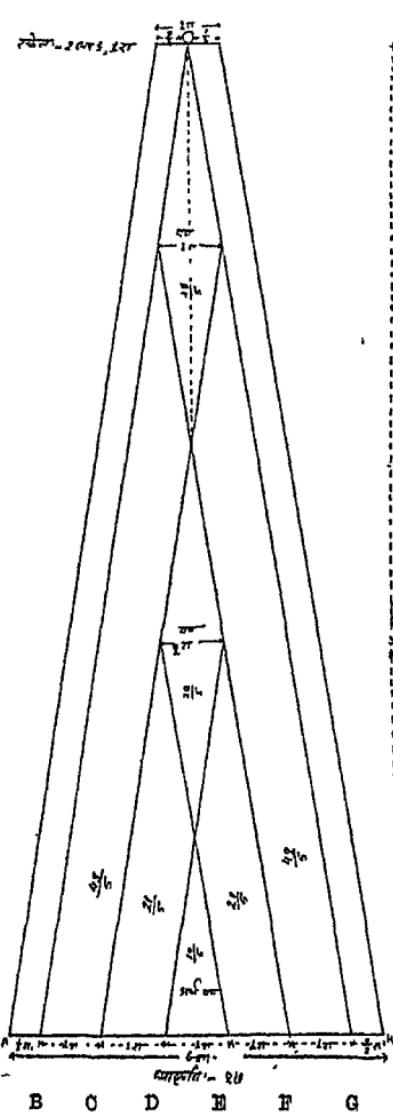
(७) दूष्य क्षेत्र— यह आकृति-१७ कथित क्षेत्र का उदग्र छेद (vertical section) है। इसके आगे पीछे (उत्तर दक्षिण) के विस्तार ७ राजु का चित्रण यहाँ नहीं हुआ है।

बाहरी दोनों प्रवण क्षेत्रों का घनफल $\frac{१}{२}$ राजु × १४ राजु × ७ × २ ie O J A B + O I H G = ९८ घनराजु।

भीतरी दोनों प्रवण क्षेत्रों का घनफल $\frac{४९}{५}$ × ७ × २ X K C B + Y K F G = $\frac{६८६}{५}$ = १३७$\frac{१}{५}$ घन राजु।

दोनों लघु प्रवण क्षेत्रों का घनफल $\frac{२१}{५}$ × ७ × २ L N D C + M N E F $\frac{२९४}{५}$ = ५८$\frac{४}{५}$ घन राजु।

यव क्षेत्र = $\frac{५}{२}$ यव का घनफल

O X K Y + K L N M + N D E ($\frac{२६}{१०}$ + $\frac{२६}{१०}$ + $\frac{१४}{१०}$) + ७ = $\frac{७०}{१०}$ × ७ = ४९ घनराजु।

(गा. १, २३४)

(८) गिरिकटक क्षेत्र— पाचवीं आकृति, यव मध्य क्षेत्र, को देखने पर ज्ञात होता है कि उसमें २० गिरिया हैं। एक गिरि का घनफल $\frac{४९}{५}$ घनराजु है, इसलिये २० गिरियों का घनफल २० × $\frac{४९}{५}$ = १९६ घन राजु प्राप्त होता है। ३५ यवमध्यों का घनफल ३४३ घन राजु आता है जो (२० गिरियो के समूह में शेष उल्टी गिरियों के घनफल को मिला देने पर) कुल गिरिकटक क्षेत्र का मिश्र घनफल कहा गया है। इस प्रकार हमें गिरिकटक क्षेत्र और यवमध्य क्षेत्र के निरूपण में विशेष भेद नहीं मिल सका है।

अर्थ इस भाति है कि भूमि ६ योजन को $\frac{१}{२}$, $\frac{१}{२}$, $\frac{१}{२}$, $\frac{१}{२}$ भागों, १ भाग और $\frac{१}{२}$, $\frac{१}{२}$, $\frac{१}{२}$, $\frac{१}{२}$ राजुओं में विभक्त किया है। ऊँचाई को समान रूप से विभक्त करने पर विस्तार १ राजु लिखा हुआ है और १४ राजु ऊँचाई को ७, ७ राजु में विभक्त कर लिखा गया है।

प्र. $\frac{५—२}{७२} \mid \frac{१}{७२}$ का अर्थ $\frac{५ × ७ × २}{७ × २}$, $\frac{१}{७ × २}$.

अर्थात् $\frac{५}{१४}$ राजु हानि-वृद्धि प्रमाण हो सकता है। शेष स्पष्ट नहीं है।

अगली गाथाओं (२३४-२६६) में ऊर्ध्व और अधोलोक क्षेत्रों को इन्ही आठ प्रकार की आकृतियों (figures) में बदल कर प्ररूपण किया गया है। उपर्युक्त विवरण, यूनानियों की क्षेत्र प्रयोग विधि (method of application of areas) के विवरण के सदृश है।

इन गाथाओं में भिन्न भिन्न घनफल लेकर, सामान्य लोक अथवा उसके भागों (जैसे, अधोलोक और ऊर्ध्व लोक) के घनफल के तुल्य उपर्युक्त आकृतियों को प्राप्त करने के लिये वर्णन दिया गया है। प्रक्रियाएँ और आकृतियाँ वही होंगी। (गा. १-२६८)
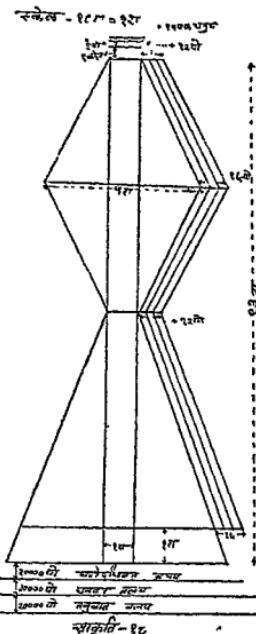
आकृति-१८

इन चित्रों में निदर्शित लम्बाइयों के प्रमाण मान रूप नहीं लिये गये हैं। (आकृति-१८ देखिये)

गा. २७० में वातवलयों से वेष्टित लोक १८ और १९ वीं आकृतियों से स्पष्ट हो जावेगा। ग्रंथकार ने जिन स्थानों का वर्णन किया है उन्हीं को आकृति-१९ और २० में ग्रहण किया गया है।

आकृति-१९ 'अ'

आकृति-१९ 'ब'
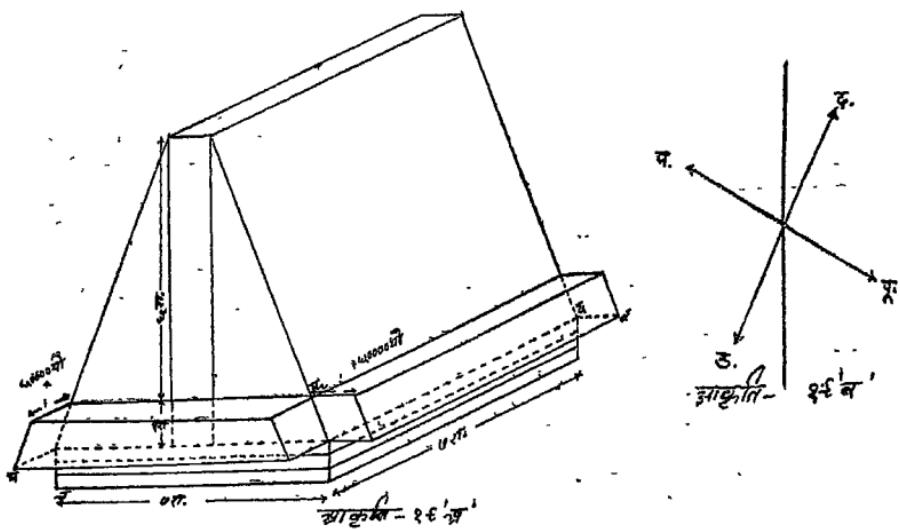
(गा. १, २६८)

सर्व प्रथम, (आकृति १९ 'अ' और 'ब') लोक के नीचे वातवलयों द्वारा वेष्टित क्षेत्रों का घनफल निकालते हैं[1]।

च ट एक आयतन (cuboid) है लम्बाई ७ राजु, चौड़ाई ७ राजु और उत्सेध या गहराई ६०००० योजन है, ∴ उसका घनफल = ७ राजु × ७ राजु × ६०००० यो.

= ४९ वर्ग राजु × ६०००० यो. होता है।

इसे ग्रन्थकार ने मूलगाथा मे प्रतीक द्वारा स्थापित किया है, यथा :

= ६००००.............(१)

अब पूर्व पश्चिम मे स्थित क्षेत्रों को लेते हैं। वे हैं, फ त्र पूर्व की ओर और फ त्र सदृश क्षेत्र पश्चिम की ओर। फ त्र एक समान्तरानीक (parallelepiped) है, जिसका घनफल लम्बाई × चौड़ाई × उत्सेध होता है।

इस क्षेत्र मे उत्सेध १ राजु है, आयाम ७ राजु और बाहल्य या मुटाई ६०००० योजन है ∴ दोनों पार्श्व भागों में स्थित वातक्षेत्रों का घनफल

= २ × [७ राजु × १ राजु × ६०००० योजन] = ७ वर्ग राजु × १२०००० योजन

= ४९ वर्ग राजु × $\frac{१२००००}{७}$ योजन होता है।

इसे मूल में, = $\frac{१२००००}{७}$ लिखा गया है। ....(२)

(१) और (२) परिणामों को जोड़ने पर ४९ वर्ग राजु × (६०००० योजन + $\frac{१२००००}{७}$ योजन) अर्थात् (४९ वर्ग राजु) × ($\frac{५४००००}{७}$ योजन) घनफल प्राप्त होता है जिसे ग्रंथकार ने = $\frac{५४००००}{७}$ लिखा है। I

अब उत्तर दक्षिण की अपेक्षा (अर्थात् सामनेवाला वातवलय वेष्टित लोकांत भाग) पफ तथा पफ के सदृश पीछे स्थित लम्ब सक्षेत्र समच्छिन्नक (frustrum of a right prism) हैं। यहा उत्सेध १ राजु (vertical height 1 raju), तल भाग में आयाम ७ राजु, मुख ६$\frac{१}{७}$ राजु और बाहल्य ६०००० योजन है।

∴ इसका घनफल = २ × $\frac{१}{२}$ × १ राजु × ($\frac{४९}{७}$ + $\frac{४३}{७}$ राजु) × ६०००० योजन

= $\frac{९२}{७}$ वर्ग राजु × ६०००० योजन

---

१ वातवलयों से वेष्टित वरिमाओं के घनफल निकालने की रीति क्या ग्रीस से प्राप्त हुई, यह नही कहा जा सकता। पर, ग्रंथकार द्वारा उपयोग में लाये गये नियमों की तुलना श्री सेन्फोर्ड द्वारा प्रतिपादित विषय "The Study of Indivisibles" से करने योग्य है। "Cavalieri (1598—1647) made extensive use of the idea of indivisibles, that is, of considering a surface the smallest element of a solid, a line the smallest element of a surface, and a point that of a line. This concept was the foundation of Cavalieri's famous theorem which reads as follows : If between the same parallels, any two plane figures are constructed, and if in them, any straight lines being drawn equidistant from the parallels, the enclosed portions of any one of these lines are equal, the plane figures are also equal to one another, and if between the same parallel planes any solid figures are constructed, and if in them, any planes being drawn equidistant from the parallel planes, the included plane figures out of any one of the planes so drawn are equal, the solid figures are likewise equal to one another."—"A Short History of Mathematics", By Sanford, p. 315.

$$= ४९ \text{ वर्ग राजु} \times \frac{५५२००००}{३४३} \text{ योजन होता है।}$$

इसे ग्रंथकार ने = $\frac{५५२००००}{३४३}$ लिखा है।.........(३)

I में (३) जोड़नेपर $४९ \text{ वर्ग राजु} \times \left(\frac{४९ \times ५४००००}{३४३} + \frac{५५२००००}{३४३} \text{ योजन} \right)$

अर्थात् $४९ \text{ वर्ग राजु} \times \frac{३११९८००००}{३४३}$ योजन प्राप्त होता है।

इसे ग्रंथकार ने = $\frac{३११९८००००}{३४३}$ लिखा है।.........II

आकृति:- 20 'अ'
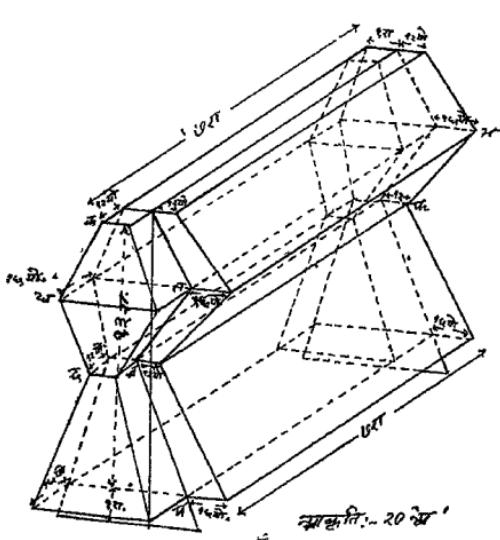
लोक के अन्त से १ राजु ऊपर तक ६०००० योजन बाहल्यवाले वातवलय क्षेत्रों की गणना के पश्चात् उनसे ऊपर स्थित क्षेत्रों की गणना करते हैं। यहां (आकृति २० 'अ') वातवलयों का बाहल्य पूर्व पश्चिम तथा उत्तर दक्षिण में क्रमशः १६ योजन, १२ योजन, १६ योजन और लोकशिखर पर १२ योजन चित्र में बतलाये अनुसार हैं।

पूर्व में आकृतियां प फ, ब भ और त थ हैं; तथा ऐसी ही पश्चिम में आकृतियां हैं जो संक्षेत्रों के समच्छिन्नक (frustrum of triangular prisms) हैं। इनका कुल उत्सेध १३ योजन है, तथा आयाम ७ योजन है। इसलिये इन आकृतियों हानि वृद्धि क्रमशः १६, १२, १६, १२ योजन हैं, का कुल घनफल = $२ \times ७ \text{ राजु} \times १३ \text{ राजु} \times \left(\frac{१६ + १२}{२} \text{ योजन} \right)$

$$= २ \times ७ \text{ राजु} \times १३ \text{ राजु} \left(१४ \times \frac{३४३}{३४३} \text{ योजन} \right) = ४९ \text{ वर्गराजु} \times \frac{१७८३६}{३४३} \text{ योजन होता है।}$$

इस प्रकार की गणना, राजु और योजन में सम्बन्ध अव्यक्त होने से बिलकुल ठीक तथा प्रशंसनीय है।

इसे ग्रन्थकार ने = $\frac{१७८३६}{३४३}$ लिखा है।.........(४)

अब, उत्तर दक्षिण अर्थात् सामने के भागों में स्थित प द, ब ध, और त क तथा ऐसे ही पीछे के क्षेत्रों का घनफल निकालते हैं। ये भी त्रिभुजीय संक्षेत्रों के समच्छिन्नक हैं।

प ट के घनफल के लिये उत्सेध ६ राजु, मुख १ राजु, भूमि ६ $\frac{१}{७}$ राजु तथा बाहल्य क्रमशः १६, १२ योजन है, इसलिये इसका तथा ऐसी ही पीछे की आकृति का कुल घनफल

$$= २ \times (६ \text{ राजु}) \times \left(\frac{६\frac{१}{७} + १}{२} \text{ राजु}\right) \times \left(\frac{१६ + १२}{२} \text{ योजन}\right)$$

$$= \frac{३००}{७} \text{ वर्ग राजु} \times १४ \text{ योजन} = ४९ \text{ वर्ग राजु} \times \frac{४२००}{३४३} \text{ योजन होता है ।}$$

इसे ग्रन्थकार ने $= \frac{४२००}{३४३}$ लिखा है ।........(५)

इसी प्रकार, न घ तथा त क और उनके समान दक्षिण में स्थित क्षेत्रों के घनफल के लिये कुल उत्सेध ७ राजु है; हानि-वृद्धि १, ५, १ राजु है तथा बाहल्य में भी हानि-वृद्धि १२, १६, १२ है। ऐसे सक्षेत्र समछिन्नकों का कुल घनफल $= २ \times ७ \text{ राजु} \times \left(\frac{५ + १}{२} \text{राजु}\right) \times \left(\frac{१६ + १२}{२} \text{ योजन}\right)$

$$= ४२ \text{ वर्ग राजु} \times १४ \text{ योजन}$$

$$= ४९ \text{ वर्ग राजु} \times \frac{५८८}{४९} \text{ योजन होता है ।}$$

इसे ग्रंथाकार ने $= \frac{५८८}{४९}$ लिखा है । ......(६)

अब लोक के ऊपर के घनफल को निकालते हैं (आकृति २० 'व') ।
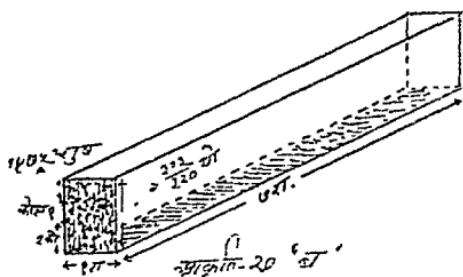
यहां उत्सेध २ कोस + १ कोस + १५७५ धनुष $= \frac{७५७५}{८०००}$ योजन $= \frac{३०३}{३२०}$ योजन है ।

आयाम १ राजु, चौड़ाई ७ राजु है

∴ इस आयतन (Cuboid) का घनफल

$$= १ \text{ राजु} \times ७ \text{ राजु} \times \frac{३०३}{३२०} \text{ योजन}$$

$$= ४९ \text{ वर्ग राजु} \times \frac{३०३}{२२४०} \text{ योजन होता है ।}$$

इसे ग्रन्थकार ने $= \frac{३०३}{२२४०}$ लिखा है ।...........(७)

शेष भागों के विषय मे ग्रन्थकार ने नहीं लिखा है। शायद वह घनफल इनकी तुलना मे उपेक्षणीय गिना गया हो अथवा उनकी गणना ही न की गई हो। यह बात स्पष्ट नहीं है। जहा तक उस उपेक्षित घनफल का सम्बन्ध है, वह भी सरलता से निकाला जा सकता है।

उपर्युक्त ७ क्षेत्रों का कुल घनफल

$$= ४९ \text{ वर्गराजु} \times \frac{१०२४१९८३४८७}{१०९७६०} \text{ योजन प्राप्त होता है । ......III}$$

इसे ग्रन्थकार ने $= \frac{१०२४१९८३४८७}{१०९७६०}$ लिखा है।......(८)

इसके पश्चात् आठों पृथ्वियों के अधस्तन भाग में वायु से अवरुद्ध क्षेत्रों के घनफल निकाले गये हैं जिनकी गणना मूल में स्पष्ट है। समस्त पृथ्वियों के अधस्तन भाग में अवरुद्ध क्षेत्रों का कुल घनफल ४९ वर्ग राजु $\times \left(\frac{१०९२००००}{४९} \text{ योजन} \right)$ होता है जिसे ग्रंथकार ने $= \frac{१०९२००००}{४९}$ स्थापित किया है।...IV

आठ पृथ्वियों का भी कुल घनफल मूल में बिलकुल स्पष्ट है जो

४९ वर्ग राजु $\times \left(\frac{४३६६४०५६}{४९} \text{ योजन} \right)$ है, जिसे......V

ग्रन्थकार ने $= \frac{४३६६४०५६}{४९}$ लिखा है।

जब III, IV, और V के योग को सम्पूर्ण लोक (≡) में से घटाते हैं तो अवशिष्ट शुद्ध आकाश का प्रमाण होता है। उसकी स्थापना जो मूल में की गई वह स्पष्ट नहीं है। आकृति-२१ देखिये।

आकृति - २१

यहां एक उल्लेखनीय बात यह है कि सिकन्दरिया के हेरन ने (प्रायः ईसा की तीसरी सदी में) वेत्रासन सदृश सांद्र (wedge shaped solid, βωμισκοσ, 'little altar') के घनफल को लगभग उपर्युक्त विधियों द्वारा प्राप्त किया है। यदि नीचे का आधार 'a' और 'b' भुजाओंवाला आयत है तथा ऊपर का मुख 'c' और 'd' भुजाओंवाला आयत है तो उत्सेध 'h' लेने पर घनफल निकालने का सूत्र यह है—

$$\{ \tfrac{१}{४} (a+c)(b+d) + \tfrac{१}{१२} (a-c)(b-d) \} h$$

यह घनफल, वेत्रासन को समान्तरानीक (parallelepiped) और त्रिभुज संक्षेत्र (triangular prism) में विदीर्ण कर, प्राप्त किया गया है[१]।

पुनः बेबीलोनिया में, प्रायः ३००० वर्ष पूर्व, पृथ्वी माप के (Γεωμετρια) विषय में उपर्युक्त विवरण से सम्बन्ध रखनेवाला चतुर्भुज क्षेत्र सम्बन्धी अभिमत कूलिज के शब्दों में यह है।

"When four measures are given the area stated is in every case greater than possible no matter what the shape. de la Fuye explains this by the ingenious hypothesis that the Babylonians used for area in terms of sides the incorrect formula $F = \frac{1}{4}(a+a')(b+b')$. This gives the correct result only in the case of the rectangle. It is curious that we find the same incorrect formula in an Egyptian inscription that scarcely antedated the christian era."[२]

१ Heath, Greek Mathematics, vol (ii) p. 333, Edn, 1921.
२ Coolidge, A History of Geometrical Methods, p. 5, Edn. 1940.
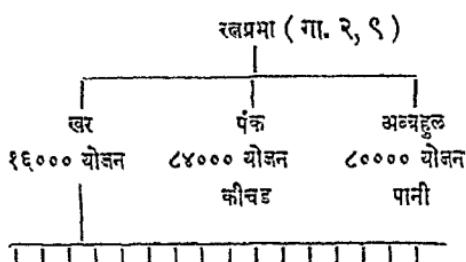
चित्रादि १६ भेद प्रत्येक १००० योजन मोटी एवं वेत्रासन आकार की।

गा. २, २६-२७— कुल बिल ८४ लाख हैं। वे इस प्रकार हैं—

र. प्र.	श. प्र.	वा. प्र.	पं. प्र.	धू. प्र.	त. प्र.	म. प्र.
३००००००	२५०००००	१५०००००	१००००००	३०००००	९९९९५	५

गा. २, २८— सातवीं पृथ्वी के ठीक मध्य में नारकी बिल हैं। अब्बहुल पर्यंत शेष छः पृथ्वियों में नीचे व ऊपर एक एक हजार योजन छोड़कर पटलों (discs) में क्रम से नारकियों के बिल हैं।

गा. २, ३६— पटल के सब बिलों के बीचवाला इन्द्रक बिल और चार दिशाओं तथा विदिशाओं के पंक्तिबद्ध बिल श्रेणिबद्ध कहलाते हैं। शेष श्रेणिबद्ध बिलों के इधर उधर रहनेवाले बिल प्रकीर्णक कहलाते हैं।

गा. २, ३७— इन्द्रक बिल, सात पृथ्वियों में क्रमशः १३, ११, ९, ७, ५, ३, १ हैं। प्रथम इंद्रक बिल और द्वितीय इंद्रक बिल के लिये आकृति-२२ 'अ', और 'ब' देखिये।

आकृति २२ 'अ'

आकृति २२ 'ब'
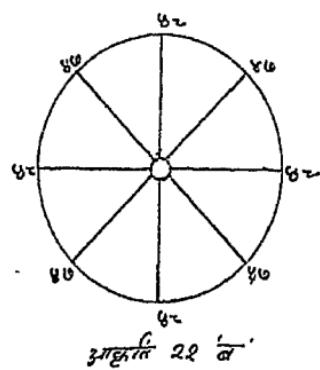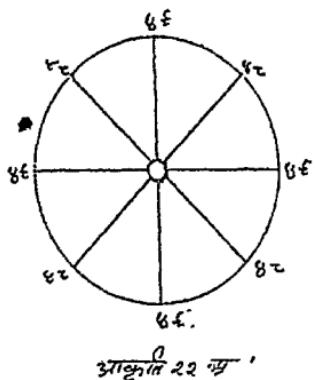
गा. २, ३९— कुल इंद्रक बिल ४९ हैं।

गा. २, ५५— दिशा और विदिशा के कुल प्रकीर्णक बिल $(४८ \times ४)+(४९ \times ४)=३८८$ हैं। इनमें सीमन्त इन्द्रक बिल को मिलाने पर प्रथम पाथड़े के कुल बिल ३८९ होते हैं।

गा. २, ५८— उपरैखिक वर्णन देने के पश्चात्, ग्रंथकार श्रेणीव्यवहार गणित का उपयोग कर समान्तर श्रेढि (Arithmetical Progression) के विषय में, इस प्रकरण से सम्बन्धित अज्ञात की गणना के लिये सूत्र आदि का वर्णन करते हैं।

यदि प्रथम पाथड़े में बिलों की कुल संख्या a हो और फिर प्रत्येक पाथड़े में क्रमशः d द्वारा उत्तरोत्तर हानि हो तो n वें पाथड़े में कुल बिलों की संख्या प्राप्त करने के लिये $\{a-(n-1)d\}$ सूत्र का उपयोग किया है। यहाँ $a=३८९$ है, $d=८$ है और $n=४$ है ∴ चौथे पाथड़े में इन्द्रक सहित श्रेणिबद्धबिलों की संख्या $\{३८९-(४-१)८\}=३६५$ है।

गा. २, ५९— n वे पाथड़े में इन्द्रक सहित श्रेणिबद्ध बिलों की संख्या निकालने के लिये ग्रंथकार साधारण सूत्र देते हैं : $\left(\frac{a-५}{d}+१-n\right)d+५$

यहां $a=३८९$ है; इष्ट प्रतर अर्थात् इष्ट पाथड़ा n वां है।

गा. २, ६०— यदि प्रथम पाथड़े में इन्द्रक सहित श्रेणिबद्ध बिलों की संख्या a और n वें पाथड़े में a_n मान ली जाय तो n का मान निकालने के लिये इस साधारण सूत्र (general formula) का उपयोग किया है : $\left[\frac{a-५}{d}-\frac{a_n-५}{d}\right]=n$

गा. २, ६१— यहां 'd' प्रचय (common difference) है।

किसी श्रेढि में प्रथम स्थान में जो प्रमाण रहता है उसे आदि, मुख (वदन) अथवा प्रभव (first term) कहते हैं। अनेक स्थानों में समान रूप से होनेवाली वृद्धि अथवा हानि के प्रमाण को चय या उत्तर (common difference) कहते हैं और ऐसी वृद्धि हानिवाले स्थानों को गच्छ या पद (term) कहते हैं।

गा. २, ६२— यदि श्रेढियों को वृद्धिमय मानें तो रत्नप्रभा में प्रथम पद २९३ आदि (first term) है, गच्छ (number of terms) १३ है और चय (common difference) ८ है। इसी प्रकार अन्य पृथ्वियों का उल्लेख अलग अलग है, चय सबमें एकसा है।

ऐसी श्रेढियों का कुल संकलित धन अर्थात् इंद्रक सहित श्रेणिबद्ध बिलों की कुल संख्या निकालने के लिये सूत्र दिया गया है।

गा. २, ६४— यहां कुल धन को हम S, प्रथम पदको a, चय को d और गच्छ को n द्वारा निरूपित करते हैं तो सूत्र निम्न प्रकार से दर्शाया जा सकता है[1]।

$$S=[(n-\dot{१})d+(\dot{१}-१)d+(a.२)]\frac{n}{२}$$

यहां इच्छा १̇ है अर्थात् पहिली श्रेढि के बिलों की कुल संख्या प्राप्त की है। इसे हल करने पर हमें साधारण सूत्र (general formula) प्राप्त होता है : $S=\frac{n}{२}[२a+(n-१)d]$

इसी प्रकार दूसरी श्रेढि के लिये जहाँ इच्छा २̇ है

$$S=[(n-\dot{२})d+(\dot{२}-१)d+(a.२)]\frac{n}{२}$$

अर्थात् वही साधारण सूत्र फिर से प्राप्त होता है :

$$S=\frac{n}{२}[२a+(n-१)d]$$

---

१ मूल गाथाको देखने से ज्ञात होता है कि (१३ − १) लिखने के लिये ग्रंथकार ने १̇३ लिखा है। इसी प्रकार (१ − १) लिखने के लिये १̇ लिखा है।

संकलित धन निकालने के लिये ग्रंथकार दूसरे सूत्र का कथन करते हैं। उसे उपर्युक्त प्रतीकों से निरूपित करने पर, इस प्रकार लिखा जा सकता है:—

$$S = \left[\left\{\left(\frac{n-१}{२}\right)^{२} + \left(\frac{n-१}{२}\right)\right\}d + ५\right]n$$

यह समीकार ऊपर दी गई सब श्रेढियों के लिये साधारण है। उपर्युक्त संख्या "५" महातमःप्रभा के बिलों से सम्बन्धित होना चाहिये।

इन्द्रक बिलों की कुल संख्या ४९ है, इसलिये यदि अंतिम पद ५ को l माना जाय, a को ३८९; और d (प्रचय) ८ हो तो $l = a - (४९ - १)d$

अर्थात् $५ = ३८९ - ३८४$

$= ५$

इस प्रकार जो यहां ५ लिया गया है, वह सब श्रेढियों के अंत में जो श्रेढि है, उसका अंतिम पद है।

गा. २, ६९— सम्पूर्ण पृथ्वियों के इन्द्रक सहित श्रेणिबद्ध बिलों के प्रमाण को निकालने के लिये आदि पांच (first term A) चय आठ (common defference D) और गच्छ का प्रमाण उनंचास (number of terms N) है।

गा. २, ७०— यहां सात पृथ्वियां हैं जिनमें श्रेढियों की संख्या ७ है। अंतिम श्रेढि में एक ही पद ५ है। इन सब का संकलित धन प्राप्त करने के लिये ग्रंथकार ने यह सूत्र दिया है।

$$S' = \frac{N}{२}[(N + ७)D - (७ + १)D + २A]$$

$$= \frac{N}{२}[२A + (N - १)D], \quad \text{यहां ७ इष्ट है।}$$

गा. २, ७१— ग्रंथकार ने दूसरा सूत्र इस प्रकार दिया है।

$$S' = \left[\frac{N-१}{२} \times D + A\right]N$$

$$= \frac{N}{२}[२A + (N - १)D]$$

यहां $N = ४९, A = ५, D = ८$ है।

गा. २, ७४— इन्द्रक रहित बिलों (श्रेणीबद्ध बिलों) की संख्या निकालने के लिये इन्द्रकों को अलग कर देने पर पृथ्वियों में श्रेणीबद्ध बिलों की श्रेढियों के आदि (first term in the respective prathvi beginning from the Ratnaprabha) क्रमशः २९२, २०४ इत्यादि हैं। गच्छ (number of terms) प्रत्येक के लिये क्रमशः १३, ११,... इत्यादि हैं और चय ८ है।

यहां भी साधारण सूत्र दिया गया है, जो सब पृथ्वियों के अलग अलग धन को (श्रेणिबद्ध बिलों की संख्या) निकालने के लिये निम्न लिखित रूप में प्रतीकों द्वारा दर्शाया जा सकता है।

$$S'' = \frac{[n^{२}\cdot d]+[२n\cdot a]-nd}{२} = \frac{n^{२}d+२na-nd}{२} = \frac{n}{२}[(n-१)d+२a]$$

जहां n गच्छ, d प्रचय और a आदि हैं।

गा. २, ८१— इंद्रकों रहित बिलों (श्रेणिबद्ध बिलों) की समस्त पृथ्वियों में कुल संख्या निकालने के लिये ग्रंथकार सूत्र देते हैं। यहां आदि ५ नहीं होकर ४ है, क्योंकि महातमःप्रभा में केवल एक इन्द्रक और चार श्रेणिबद्ध बिल हैं। यही आदि अथवा A है; ४९, N है और प्रचय ८, D है। इसके लिये प्रतीक रूप से सूत्र यह है:—

$$S''' = \frac{(N^{२}-N)D+(N\cdot A)}{२} + \left(\frac{A}{२}\cdot N\right)$$

$$= \frac{N}{२}[A+(N-१)D+A]$$

$$= \frac{N}{२}[२A+(N-१)D]$$

गा. २, ८२-८३— आदि [first term A) निकालने के लिये ग्रंथकार सूत्र देते हैं :—

$$A = \frac{\left[S''' \div \frac{N}{२}\right]+[D\cdot ७]-[७-१+N]D}{२}$$

जिसका साधन करने पर पूर्ववत् साधारण सूत्र प्राप्त होता है।

यहां इच्छित पृथ्वी ७ वीं है जिसका आदि निकालना इष्ट था।

इच्छा कोई भी राशि हो सकती है।

गा. २, ८४— चय [common difference D] निकालने के लिये ग्रंथकार सूत्र देते हैं,

$$D = S''' \div \left([N-१]\frac{D}{२}\right) - \left(A \div \frac{N-१}{२}\right)$$

इसे साधित करने पर पूर्ववत् साधारण सूत्र प्राप्त होता है।

गा. २, ८५— इसके पश्चात् ग्रंथकार रत्नप्रभा प्रथम पृथ्वी के संकलित धन (श्रेणिबद्ध बिलों की कुल संख्या) को लेकर पद १३ को निकालने के लिये निम्न लिखित सूत्र का प्रयोग करते हैं; जहां n = १३, S'' = ४४२०, d = ८ और a = २९२ आदि है।

$$n = \left\{\sqrt{\left(S''\cdot\frac{d}{२}\right)+\left(\frac{a-\frac{d}{२}}{२}\right)^{२}} - \left(\frac{a-\frac{d}{२}}{२}\right)\right\} \div \frac{d}{२}$$

इसे साधित करने पर पूर्ववत् समीकार प्राप्त होता है।

गा. २, ८६— उपर्युक्त के लिये दूसरा सूत्र भी निम्न लिखित रूप में दिया गया है।

$$n = \left\{\sqrt{(२\cdot d\cdot S'')+\left(a-\frac{d}{२}\right)^{२}} - \left(a-\frac{d}{२}\right)\right\} \div d$$

इसे साधित करने पर पूर्ववत् समीकार प्राप्त होता है।

गा. २, १०५— इन्द्रकों का विस्तार समान्तर श्रेढि (Arithmetical progression) में घटता है। प्रथम इन्द्रक का विस्तार ४५,०००० योजन और अंतिम इंद्रक का १०,०००० योजन है। कुल इंद्रक बिल ४९ हैं। यह गच्छ की संख्या है जिसे प्रतीक रूप से हम n द्वारा निरूपित करेंगे। आदि ४५००००० (a) और अंतिम पद १०००००० (l) तथा चय (Common difference) d है तो d निकालने के लिये ग्रंथकार ने यह दिया है :

$$d = \frac{a-l}{(n-1)}$$ यहां n अंतिम पद के लिये उपयोग में आया है।

प्रथम बिल से यदि nवें बिल का विस्तार प्राप्त करना हो तो उसे प्राप्त करने के लिये निम्न लिखित सूत्र का उपयोग किया गया है :

$$a_n = a - (n-1)d.$$

यदि अंतिम बिल से n वें बिल का विस्तार प्राप्त करना हो तो सूत्रको प्रतीक रूप से निम्न प्रकार निबद्ध किया जा सकता है :—

$$b_n = b + (n-1)d.$$

जहां a_n और b_n उन n वें बिलों के विस्तारों के प्रतीक हैं।

यहां विस्तार का अर्थ व्यास (diameter) किया जा सकता है।

गा. २, १५७— इन बिलों की गहराई (बाहल्य) समान्तर श्रेढि में है। कुल पृथ्वियां ७ हैं। यदि nवीं पृथ्वी के इंद्रक का बाहल्य निकालना हो तो नियम यह है :—

$$n \text{ वीं पृथ्वी के इंद्रक का बाहल्य} = \frac{(n+1)\times 3}{(7-1)}$$

$$\text{इसी प्रकार, } n \text{ वीं पृथ्वी के श्रेणिबद्ध बिलों का बाहल्य} = \frac{(n+1)\times 4}{(7-1)}$$

$$\text{इसी प्रकार, } n \text{ वीं पृथ्वी के प्रकीर्णक बिलों का बाहल्य} = \frac{(n+1)\,7}{(7-1)}$$

गा. २, १५८— दूसरी रीति से बिलों का बाहल्य निकालने के लिये ग्रंथकार ने उनके 'आदि' के प्रमाण क्रमशः ६, ८ और १४ लिये हैं।

पृथ्वियों की संख्या ७ है। यदि n वीं पृथ्वी के इंद्रक का बाहल्य निकालना हो तो सूत्र यह है :—

$$n\text{वीं पृथ्वी के इंद्रक का बाहल्य} = \frac{(6 + n\cdot\frac{6}{2})}{(7-1)}$$

यहां ६ को आदि लिखें तो दक्षिणपक्ष $= \left(\frac{a + n\cdot\frac{a}{2}}{7-1}\right)$ होता है।

इसी प्रकार, nवीं पृथ्वी के श्रेणिबद्ध बिलो का बाहल्य $= \frac{(8 + n\cdot\frac{8}{2})}{(7-1)}$ होता है।

यदि ८ को आदि लिखें तो दक्षिण पक्ष $= \frac{a + n\frac{a}{2}}{(7-1)}$ होता है।

प्रकीर्णक बिलों के लिये भी यही नियम है।

आगे गाथा १५९ से १९४ तक इन बिलों के अन्तराल (inter space) का विवरण दिया गया है जो सूत्रों की दृष्टि से अधिक महत्व का प्रतीत नहीं हुआ है।

गा. २, १९५— घर्मा या रत्नप्रभा के नारकियों की संख्या निकालने के लिये पुनः जगश्रेणी और घनांगुल का उपयोग हुआ है। प्रतीक रूप से, घनांगुल के लिये ६ लिखा गया है और उसका घनमूल सूच्यंगुल २ लिखा गया है[1]।

आज कल के प्रतीकों में घर्मा पृथ्वी के नारकियों की संख्या

$$= \text{जगश्रेणी} \times (\text{कुछ कम}) \sqrt{\sqrt{६}}$$

$$= \text{जगश्रेणी} \times [\text{कुछ कम } (६)^{\frac{१}{४}}]$$

$$= \text{जगश्रेणी} \times [\text{कुछ कम } (२)^{\frac{३}{४}}]$$

$$= \text{जगश्रेणी} \times [\text{कुछ कम } \sqrt[४]{(२)^३}]$$

मूल गाथा में इसका प्रतीक $\overline{}^{१२}_{१२}$ दिया गया है। आड़ी रेखा जगश्रेणी है।

$^{१२}_{१२}$ का अर्थ स्पष्ट नहीं है। वास्तव में उन्हीं प्राचीन प्रतीकों में $\overline{}^{६}_{२}|$ लिखा जाना था (?)।

गा. २, १९६— इसी प्रकार, वंशा पृथ्वी के नारकी जीवों की संख्या आजकल के प्रतीकों में

$$= \text{जगश्रेणी} \div (\text{जगश्रेणी})^{\left(\frac{१}{२^{१२}}\right)}$$

$$= \text{जगश्रेणी} \div (\text{जगश्रेणी})^{\frac{१}{४०९६}}$$

इसे ग्रंथकार ने प्रतीक[2] रूप में $\overline{१२}|$ लिखा है। स्पष्ट है कि इसमें प्रथम पद जगश्रेणी नहीं है जिसमें कि $(\text{जगश्रेणी})^{\frac{१}{२^{१२}}}$ का भाग देना है। यह प्रतीक केवल जगश्रेणी के बारहवें मूल को निरूपित करता है।

---

१ यहां जगश्रेणी का अर्थ जगश्रेणी प्रमाण सरल रेखा में स्थित प्रदेशों की संख्या से है। जगश्रेणी असंख्यात संख्या के प्रदेशों की राशि है। असंख्यात संख्यावाले प्रदेश पंक्तिबद्ध संलग्न रखने पर जगश्रेणी का प्रमाण प्राप्त होता है। प्रदेश, आकाश का वह अंश है जो मूर्त पुद्गल द्रव्य के अविभाज्य परमाणु द्वारा अवगाहित किया जाता है। इसी प्रकार सूच्यंगुल (२) उस संख्या का प्रतीक है जो सूच्यंगुल में स्थित पंक्तिबद्ध संलग्न प्रदेशों की संख्या है। सूच्यंगुल भी जगश्रेणी के समान, एक दिश, परिमित रेखा-माप है।

२ करणी का चिह्न तथा उसके उपयोग के विषय में गणित के इतिहासकारों का मत है कि इटली और उत्तर यूरोप के गणितज्ञों ने पंद्रहवीं सदी के अन्त से उसे विकसित करना आरम्भ किया था। विरा सेन्फोर्ड ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है,

"Radical signs seem to have been derived from either the Capital latter R or from its lower case form, the former being preferred by Italian writers and tha latter by those of northern Europe. Before the addition of the horizontal bar which showed the terms affectad by the radical sign, varions symbols of aggregation were developed"—"A Short History of Mathematics" p. 158.

गा. २, २८५— रौरुक इन्द्रक में उत्कृष्ट आयु असख्यात पूर्वकोटि दर्शाने के लिये ग्रंथकार ने प्रतीक निरूपण इस तरह की है : पुव्व । a ।

गा. २, २८६— प्रथम पृथ्वी के शेष ९ पटलों में उत्कृष्ट आयु समान्तर श्रेढि में है, जिसका चय (हानि वृद्धि प्रमाण) = $\frac{१ - \frac{१}{१०}}{९} = \frac{१}{१०}$ है।

चतुर्थ पटल में आदि $\frac{१}{१०}$ है, पंचम पटल में $\frac{२}{१०}$, षष्ठम पटल में $\frac{३}{१०}$ सागरोपम, इत्यादि।

शेष वर्णन मूल में स्पष्ट है। यहां विशेषता यह है कि आयु की वृद्धि विवक्षित (arbitrary) पटलों में समान्तर श्रेढि में है।

इसी प्रकार गाथा २१८, २२० में दिया गया वर्णन स्पष्ट है।

गा. ३, ३२— चैत्यवृक्षों के स्थल का विस्तार २५० योजन, तथा ऊंचाई मध्य में ४ योजन और अंत में अर्ध कोस प्रमाण है। इसे ग्रंथकार ने आकृति—२३ अ के रूप में प्रस्तुत किया है।

आकृति-२३ अ

आकृति २३ 'ब'

रा का अर्थ स्पष्ट नहीं है।
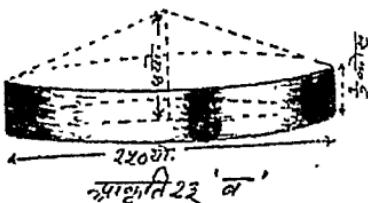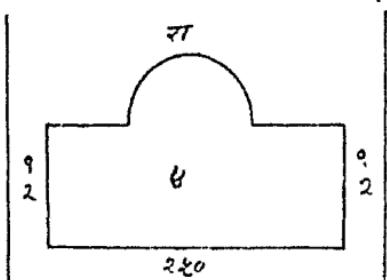
$\frac{१}{२}$ का अर्थ $\frac{१}{२}$ कोस है। २५० विस्तार अर्थात् २५० व्यासवाला वृत्त त्रिविमा रूप लेने पर (Taken as a three dimensional figure) होता है। ४, मध्य में उत्सेध है। इस प्रकार यह चित्र (आकृति—२३ ब) नीचे एक स्तम्भ के रूप में है जिसकी ऊंचाई $\frac{१}{२}$ कोस है। उसके ऊपर ४ योजन ऊंचाईवाला शंकु स्थित है। आकृति—२३ (स) से वर्णित वृक्ष का स्वाभाविक रूप स्पष्ट हो जाता है।

आकृति २३ 'स'
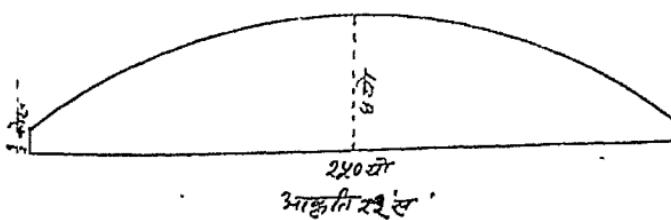
इन्द्र के परिवार देवों में से ७ अनीक (सेनातुल्य देव) भी होते हैं।

सात अनीकों में से प्रत्येक अनीक सात सात-कक्षाओं से युक्त होती है उनमें से प्रथम कक्षा का प्रमाण अपने अपने सामानिक देवों के बराबर है। इसके पश्चात् अंतिम कक्षा तक उत्तरोत्तर, प्रथम कक्षा से दूना दूना प्रमाण होता गया है।

असुरकुमार की सात अनीकें होती हैं। नागकुमार की प्रथम अनीक में ९ भेद होते हैं, शेष द्वितीयादि अनीकें असुरकुमार की अनीकों के समान होती हैं।

यदि चमरेन्द्र की महिषानीक (भैंसों की सेना) की गणना की जाय तो कुल धन एक गुणोत्तर श्रेढि (geometrical progression) का योग होगा।

यहां गच्छ (number of terms) का प्रमाण ७ है,

मुख (first term) का प्रमाण ४००० है,

और गुणकार (common ratio) का प्रमाण २ है।

संकलित धन को प्राप्त करने के लिये सूत्र का उपयोग किया गया है[1]। यदि S_n को n पदों का योग माना जाय जब कि प्रथमपद a और गुणकार (Common Ratio) r होवें तब,

$$\{(r \cdot r \cdot r \cdot r \cdot r \cdot r \cdots \text{upto n terms}) - 1\} \div (r-1) \times a = S_n$$

अथवा, $$S_n = \frac{(r^n - 1)a}{(r-1)}$$

इस प्रकार ७ अनीकों के लिये संकलित धन ७ (S_n) आ जाता है।

वैरोचन आदि के अनीकों का संकलित धन इसी सूत्र द्वारा प्राप्त कर सकते हैं।

गा. ३, १११— चमरेन्द्र और वैरोचन इन दो इन्द्रों के नियम से १००० वर्षों के बीतने पर आहार होता है।

गा. ३, ११४— इनके पन्द्रह दिनों में उच्छ्वास होता है।

गा. ३, १४४— इनकी आयु का प्रमाण १ सागरोपम होता है[2]।

इसी प्रकार भूतानन्द इन्द्र का १२½ दिनों में आहार, १२½ मुहूर्त में उच्छ्वास होता है। भूतानन्द की आयु ३ पल्योपम, वेणु एवं वेणुधारी की २½ पल्योपम, पूर्ण एवं वशिष्ठ की आयु का प्रमाण २ पल्योपम है। शेष १२ इन्द्रों में से प्रत्येक की आयु १½ पल्योपम है।

---

१ गुणोत्तर श्रेढि के संकलन के लिये जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में भी नियम दिये गये हैं। २।९; ४।२०४, २०५, २२२ आदि।

२ इसके सम्बन्ध में Cosmolgy Old & New में दिये गये Prologue का footnote यहाँ पर उद्धृत करना आवश्यक प्रतीत होता है।

"Judge, J. L. Jaini, in the "Jaina Hostel Magazine" Vol. VII, Number 3, page 10, has observed that there is a fixed proportion between the respiration, fecling of hunger and the age of the celestial beings. The food interval is 1,000 years and the respiration one fortnight for every Sagar of age. The proportion of food interval to respiration is thus, 1 to 24000. He has further observed that if a man lived like a god, we should have a legitimate feeling of hunger only once in the day. A Normal person has 18 respirations to the minute, or $18 \times 60 \times 24 = 25920$ in 24 hours, roughly 24,000".—G. R. JAIN, "Cosmology Old and New", P. XIII, Edn. 1942.

गा. ४, ६— त्रसनाली के बहुमध्य भाग में चित्रा पृथ्वी के ऊपर ४५००००० योजन विस्तार

(diameter) वाला अतिगोल मनुष्यलोक है (आकृति–२४)। अतिगोल का अर्थ बेलनाकार हो सकता है, क्योंकि अगली गाथा में उसका बाहल्य १ लाख योजन दिया है। (A right circular cylinder of which base is of rad. 2250000 and height is 100000 yojans)।

गा. ४, ९— व्यास से परिधि निकालने के लिये π का मान $\sqrt{१०}$ लिया गया है और सूत्र दिया है: परिधि $= \sqrt{(\text{व्यास})^२ \times १०}$ अथवा circum. $= \sqrt{(\text{diam.})^२ . 10}$. यहां व्यास को d, त्रिज्या को r और परिधि को c माना जाय तो

$$c = \sqrt{१०}.\ d = २\ r \sqrt{१०}$$

वृत्त का क्षेत्रफल निकालने के लिये सूत्र दिया गया है:—

$$\text{परिधि} \times \frac{\text{व्यास}}{४} \text{ अर्थात् क्षेत्रफल} = \frac{\text{परिधि}}{\text{व्यास}} . \frac{(\text{व्यास})^२}{४} =$$

$\sqrt{१०}.\ (\text{त्रिज्या})^२$, अथवा, area $= \pi.\ (\text{radius})^२$.

इसी प्रकार, लम्ब वर्तुल स्तम्भ का घनफल निकालने का सूत्र यह है:—

आधार का क्षेत्रफल × (उत्सेध या बाहल्य)

घनफल (volume) को मूल में 'विदफल' लिखा गया है।

परिधि वैसी यहां सर्वदा १४२३०२४९ को अंकों में लिखने के साथ ही साथ शब्दों में इस तरह लिखा गया है : परिधि क्रमशः नौ, चार, दो, शून्य, तीन, दो, चार और एक, इन अंकों के प्रमाण हैं— यह दशहांश पद्धति का उपयोग है।

गा. ४, ५५-५६— सम्भवतः, यहां ग्रंथकार का आशय निम्न लिखित है:—

जम्बूद्वीप का विष्कम्भ १००००० योजन है। उसकी परिधि निकालने के लिये π का मान $\sqrt{१०}$ लिया गया है। १० का वर्गमूल दशमलव के ५ अंक तक निकालने के पश्चात् छठवें अंक से २ कोश की प्राप्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि छठवां अंक ७ होने से योजन को कोश में परिवर्तित करने पर २·८ की ही प्राप्ति होगी। और भी आगे गणना करने पर प्रतीत होता है कि १० के वर्गमूल को आगे के कई अंकों तक निकालने के पश्चात्, क्रमशः धनुष, किष्कू, हाथ, आदि में परिधि की गणना की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि ३ उवसन्नासन्न प्रमाण के पश्चात् $\frac{२३२१३}{१०५४०९}$ प्रमाण उवसन्नासन्न बच रहता है। उवसन्नासन्न नामक स्कंध में अनन्तानन्त परमाणुओं की कल्पना के आधार पर, ग्रंथकार ने उक्त भिन्नीय प्रमाण में परमाणु की संख्या को, दृष्टिवाद अंग से $\frac{२३२१३}{१०५४०९}$. ख ख द्वारा निरूपित करना चाहा है। परन्तु, दूरी का प्रमाण निकालने के लिये उवसन्नासन्न के पश्चात् अथवा पहिले ही, प्रदेश द्वारा निरूपण होना आवश्यक है। सूच्यंगुल में प्रदेशों की संख्या के प्रमाण के आधार पर १ उवसन्नासन्न द्वारा व्याप्त आकाश में अनन्तानन्त संख्या प्रमाण परमाणु भले ही एकावगाही होकर संरचकरूप स्थित हों, पर उतने
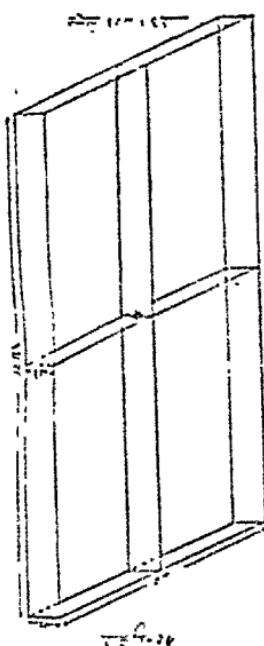
व्याप्त आकाश का प्रमाण अनन्तानन्त प्रदेश कदापि नहीं हो सकता। इस प्रकार, इस सीमा तक किया गया यह प्ररूपण लाभप्रद न हो, पर उनके द्वारा खोजे गये पथ का प्रदर्शन करता है। इसके पूर्व अनन्तानन्त आकाश का निरूपण ग्रंथकार ने ख ख ख द्वारा किया था। यहां परमाणुओं की अनन्तानन्त संख्या बतलाने के लिये $\frac{२३२१३}{१०५४०९}$ द्वारा निरूपण किया गया है और इसे "खखपदसंसस पुहं" का गुणकार बतलाया है ताकि परिभाषानुसार अंतिम महत्ता प्रदर्शित की जा सके। यह कहा जा सकता है कि ख[1] अनंत का प्रतीक था और उसमें गुणनभाग की कल्पना उसी तरह सम्भव थी जैसी कि परिमित संख्याओं (finite quantities) में मानी जाती है।

गा. ४, ५९-६४— इसी प्रकार, क्षेत्रफल की अंत्य महत्ता को प्रदर्शित करने के लिये, $\frac{४८४५५}{१०५४०९}$ उवसन्नासन्न में परमाणुओं की संख्या ग्रंथकार ने $\frac{४८४५५}{१०५४०९}$ ख ख द्वारा निरूपित की है[2]। ऐसा प्रतीत होता है मानों पूर्व पश्चिम, उत्तर दक्षिण, ऊर्ध्व अधः, इन तीन दिशाओं में अंत न होनेवाली श्रेणियों द्वारा संरचित अनन्त आकाश की कल्पना से ख ख ख की स्थापना की गई हो।

गा. ४, ७०— यहां आकृति-२५ देखिये।

आकृति-२५
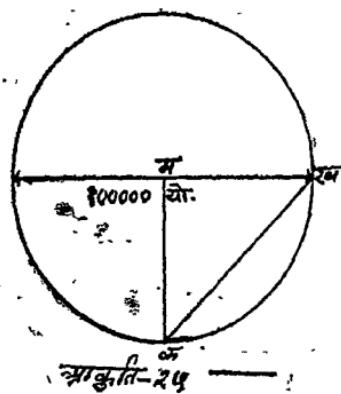
यदि विक्कम्भ (व्यास) को d मानें, परिधि को c मानें और भिज्या को r मानें तो (द्वीप की चतुर्थांश परिधि रूप धनुष की जीवा $)^२ = \left(\frac{d}{२}\right)^२ \times २$

अथवा, (chord of a quadrant arc $)^२$

$$= \left(\frac{d}{२}\right)^२ \times २ = २r^२$$

पायथेगोरस के साध्यानुसार भी इसे प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि $(\text{म क})^२ + (\text{म क})^२ = (\text{क ख})^२$ होता है।

ग्रंथकार ने फिर इस चतुर्थांश परिधि तथा उसकी जीवा में सम्बन्ध बतलाया है। यथाः—

---

१ सम्भवतः 'ख ख ख' अनंतानंत आकाश के प्रतीक के लिये ख शब्द से लिया गया है जहां ख का अर्थ आकाश होता है। ∞ या आधुनिक अनंत का प्रतीक मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि के अनुसार ख से लिया गया प्रतीत होता है।

२ वास्तव में आयाम सम्बन्धी एक दिश निरूपण के लिये 'ख' पद लेना आवश्यक है, तथा क्षेत्र सम्बन्धी द्विदिश निरूपण के लिये 'ख ख' पद लेना आवश्यक है। इसी प्रकार का प्ररूपण कोस, वर्ग कोस आदि में होना आवश्यक था, जिसे ग्रंथकार ने संक्षिप्त निरूपण के कारण न किया हो। उवसन्नासन्न के अंतिम परिणाम को लेकर, हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि उन्होंने १० का वर्गमूल दशमलव के किस अंक तक निकाला था, पर अति क्लिष्ट होने से, तथा π का सूक्ष्म निरूपण न होने से इस दिशा में अब प्रयत्न करना लाभप्रद नहीं है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, १।२३, में आनुपूर्वी के अनुसार (१।८; १।१८), π का प्रमाण केवल हाथ प्रमाण तक दिया गया है, जो कुछ भिन्न है।

(चतुर्थांश परिधि की जीवा)^{२} $\times \frac{५}{४}$ = (चतुर्थांश परिधि)^{२}

अथवा, यदि जीवा का ऊपर दिया गया मान लेकर साधन करें तो (चतुर्थांश परिधि)^{२}

$$=\left[२\times\frac{d^{२}}{४}\right]\times\frac{५}{४}=\frac{५d^{२}}{८}=\frac{१०r^{२}}{४}$$

अथवा, चतुर्थांश परिधि $=\sqrt{१०}\cdot\frac{r}{२}$.

आजकल, इस (Quadrant arc of a circle) को $\frac{\pi r}{२}$ लिखा जाता है जहां π का मन ३·१४१५९··· है।

(गा. ४, ९४-२६९)

आकृति-२७ अ
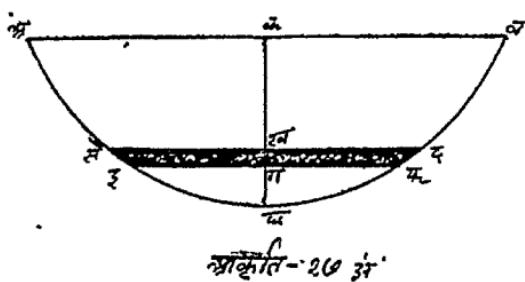
भरत क्षेत्र : (आकृति-२७ अ देखिये।) यहां विस्तार क घ= ५२६$\frac{६}{१९}$ योजन है।
चित्र में स द इ फ विजयार्द्ध पर्वत है।
ग घ = २३८$\frac{३}{१९}$ योजन है।
दक्षिण विजयार्द्ध की जीवा इ फ = ९७४८$\frac{१२}{१९}$ योजन है, तथा विजयार्द्ध की जीवा स द = १०७२०$\frac{११}{१९}$ योजन तथा धनुष स इ घ फ द = १०७४३$\frac{१५}{१९}$ योजन है। चूलिका = $\left(\frac{स द - इ फ}{२}\right)$ = ४८५$\frac{३७}{३८}$ योजन है।

क्षेत्र और पर्वत की पार्श्वभुजा = स इ = द फ = ४८८$\frac{३३}{३८}$ योजन है।

भरत क्षेत्र के उत्तर भाग की जीवा का प्रमाण = अ ब = १४४७१$\frac{५}{१९}$ योजन है तथा धनुपृष्ठ अ घ ब = १४५२८$\frac{११}{१९}$ योजन है।

चूलिका = $\frac{अ ब - स द}{२}$ = १८७५$\frac{११}{३८}$ योजन है। इत्यादि।

साथ ही पार्श्वभुजा अ स = ब द = १८९२$\frac{१५}{३८}$ योजन है।

आकृति २७ ब
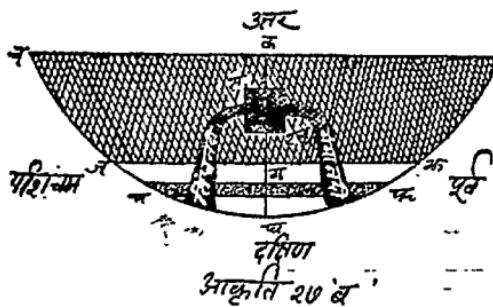
यहां चित्र मान प्रमाण पर नहीं बनाये जा सकते हैं क्योंकि १००००० योजन विस्तार की तुलना में ५२६$\frac{६}{१९}$ योजन के प्ररूपण से चित्र स्पष्ट न हो सकेगा। यहां (अकृति-२७ ब) अवधा ज घ झ भरत क्षेत्र है और उससे दुगुने विस्तार 'क ख' वाला च छ झ ज हिमवान् पर्वत है।

स सरोवर ५०० योजन पूर्व पश्चिम में तथा १००० योजन उत्तर दक्षिण में विस्तृत है। गंगा, प्रथम, पूर्व की ओर ५०० योजन बहती है और तब दक्षिण की ओर मुड़कर सीधी ५२३$\frac{३}{१९}$ योजन हिमवान्

पर्वत के अंत तक जाकर, विजयार्द्ध भूमि प्रदेश में मुडती है। वहां वह पूर्व पश्चिम से आई हुई उन्मग्ना और निमग्ना से मिलती है। पुनः वह विजयार्द्ध को पार कर दक्षिण भरत क्षेत्र में ११९$\frac{३}{१९}$ योजन तक जाकर, पूर्व की ओर मुड़कर, मागध तीर्थ के पास समुद्र में प्रवेश करती है। इसी प्रकार सम्मितीय गमन सिंधु नदी का है।

गा. ४, १८०— इस गाथा में ग्रंथकार ने उस दशा में जीवा निकालने के लिये नियम दिया है जब कि बाण और विष्कम्भ दिया गया हो।

बाण (height of the segment) को यहां h द्वारा, विस्तार (diameter) को d द्वारा प्ररूपित कर जीवा (chord) का मान निम्न लिखित सूत्र रूप में दिया जा सकता है।

$$\text{जीवा}^{१} = \sqrt{४\left[\left(\frac{d}{२}\right)^{२} - \left(\frac{d}{२} - h\right)^{२}\right]}$$

$$= \sqrt{४\left[(r)^{२} - (r-h)^{२}\right]}$$

यहां भी पायथेगोरस के नाम से प्रसिद्ध साध्यका उपयोग है।

आकृति २६

यहां आकृति-२६ से स्पष्ट है कि—

$$(\text{उफ})^{२} = (\text{उप})^{२} + (\text{पफ})^{२}$$

$$\therefore (\text{पफ})^{२} = (\text{उफ})^{२} - (\text{उप})^{२}$$

$$\therefore २\,\text{पफ} = \sqrt{४\left[(\text{उफ})^{२} - (\text{उप})^{२}\right]}$$

गा. ४, १८१— इस गाथा में ग्रंथकार ने उस दशा में धनुष का प्रमाण निकालने के लिये सूत्र दिया है जब कि बाण और विष्कम्भ का प्रमाण दिया गया हो।

धनुष (Length of the arc bounding the segment) का प्रमाण निम्न लिखित रूप में दिया जा सकता है :—

---

१ वृत्त की जीवा प्राप्त करने के लिये, बेबीलोनिया निवासी भी प्रायः इसी रूप के सूत्र का उपयोग करते थे जिसके विषय में कूलिज का अभिमत यह है,

"The Pythagorean theorem appears even more clearly in Neugebauer and Struve's translation of another of the cuneiform texts, which we may date somewhere around 2600 B. C."—Coolidge, A History of Geometrical Methods, p. 7, Edn. 1940.

सूत्र प्रतीकरूपेण यह है :—

$$\text{जीवा} = \sqrt{\{d^{२} - (d - २h)^{२}\}}$$

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में, जीवा $= \sqrt{४.\ \text{बाण}\ (\text{विष्कम्भ} - \text{बाण})}$ रूप में दिया गया है। २।२३; ६।९ आदि। इसी प्रकार धनुष $= \sqrt{६\,(\text{बाण})^{२} + (\text{जीवा})^{२}}$ प्ररूपित है। २।२४, २९; ६।१०.

$$\text{धनुष} = \sqrt{२\left[(d+h)^२ - (d)^२\right]}$$

यह देखने के लिये कि यह कहां तक शुद्ध है, हम अर्द्ध वृत्त का धनुष प्रमाण निकालने के लिये h = r रखते हैं।

$$\text{इस दशा में धनुष} = \sqrt{२\{[d+r]^२ - (d)^२\}}$$

$$= \sqrt{२[९r^२ - ४r^२]} \qquad = \sqrt{१०r^२}$$

$= \sqrt{१०}\, r$ प्राप्त होता है, जिसे आजकल के प्रतीकों में π r लिखा जावेगा। यह सूत्र अपने ढंग का एक है[1]। उन गणितज्ञों ने π का मान $\sqrt{१०}$ मानकर इस सूत्र को जन्म दिया। अनु कल कलन से यदि इसका मान ठीक निकालें तो इस सूत्र को साधित करना पड़ेगा :—

$$\text{Total Arc} = २\int_0^{\sqrt{r^२-(r-h)^२}} \sqrt{१+\left(\frac{x^२}{r^२-x^२}\right)}\,dx.$$

अथवा, बाण के आधार पर, केन्द्र पर आपतित कोण प्राप्त कर धनुष का प्रमाण निकाला जा सकता है।

गा. ४, १८९— जब जीवा (chord), और विस्तार (diameter) दिया गया हो तो बाण (Height of the segment) निकालने के लिये यह सूत्र दिया है[2]:—

$$h = \frac{d}{२} - \left[\frac{d^२}{४} - \frac{(\text{chord})^२}{४}\right]^{\frac{१}{२}}$$

$$= r - \left[r^२ - \left(\frac{\text{chord}}{२}\right)^२\right]^{\frac{१}{२}}$$

---

१ हालैण्ड के प्रसिद्ध गणितज्ञ और भौतिकशास्त्री हाइजिन्स (१६२९–१६९५) ने धनुष और और जीवा से सम्बन्धित निम्न लिखित सूत्र दिये हैं।

(१) $\text{Arc} = \frac{8[\text{Half the Arc}] - \text{Chord of the whole Arc}}{3}$ nearly

(२) $\text{Arc} = \frac{\text{Chord} + 256(\text{quarter the arc}) - 40(\text{Half the arc})}{45}$ nearly

इन सूत्रों में Chord का मान $\sqrt{४[r^२ - (r-h)^२]}$ रखा जा सकता है तथा ग्रन्थकार द्वारा दिये गये सूत्र से तुलना की जा सकती है।

२ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति २।२५, ६।११.

स्पष्ट है, कि यह सूत्र, निम्न लिखित समीकरण को साधित करने पर प्राप्त किया गया होगा:—
$४h^२ + (\text{जीवा})^२ - ८r \cdot h = ०,$

जहां $h = r \pm \left[r^२ - \left(\frac{\text{जीवा}}{२}\right)^२\right]^{\frac{१}{२}}$ प्राप्त होता है।

उपर्युक्त सूत्र में $\pm$ की जगह केवल $-$ (ऋण) ग्रहण करना उल्लेखनीय है। प्राप्त होनेवाले दो प्रमाणों में से छोटी अवधा के लिये प्रमाण प्राप्त करना उनके लिये इष्ट था।

पुनः, गाथा, १८० और १८१ में दिये गये सूत्रों में से r निरसित (eliminate) करने पर धनुष, जीवा और बाण में सम्बन्ध प्राप्त होता है :—

$$(\text{धनुष})^2 = ६h^2 + (\text{जीवा})^2$$

तथा, $४h^2 + ४\left(\frac{\text{जीवा}}{२}\right)^2$ को ४ (अर्द्ध धनुष की जीवा)^2 लिखने पर हमें निम्न लिखित सम्बन्ध प्राप्त होता है :—

$$(\text{धनुष})^2 = २h^2 + ४(\text{अर्द्ध धनुष की जीवा})^2$$

इसी प्रकार अन्य सम्बन्ध भी प्राप्त किये जा सकते हैं।

गा. ४, २७७-२८३— इन गाथाओं में निश्चय काल का स्वरूप बतलाया गया है।

गा. ४, २८५-८६— व्यवहार काल की इकाई 'समय' मानी गई है। इसे अविभागी काल भी माना है जो उतने काल के बराबर होता है, जितने काल में पुद्गल का एक परमाणु आकाश के दो उत्तरोत्तर स्थित प्रदेशों के अन्तराल को तय करता है[1]।

असंख्यात समयों की एक आवलि और संख्यात आवलियों का एक उच्छ्वास होता है— इसे ग्रंथकार ने निम्न लिखित रूप में अंकसंदृष्टियों द्वारा प्रदर्शित किया है $\frac{१}{२}\Big|\frac{१}{६}\Big|\,१$; हो सकता है कि असंख्यात का निरूपण २ तथा संख्यात का ६ के द्वारा किया हो। आगे,

७ उच्छ्वास = १ स्तोक; ७ स्तोक = १ लव, ३८$\frac{१}{२}$ लव = १ नाली, २ नाली = १ मुहूर्त, ३० मुहूर्त = १ दिन, १५ दिन = १ पक्ष, २ पक्ष = १ मास, २ मास = १ ऋतु, ३ ऋतु = १ अयन, २ अयन = १ वर्ष, और ५ वर्ष = १ युग होता है। इस प्रकार, आगे बढ़ते हुए, एक बड़ा व्यवहार

---

१ यहाँ स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि किस गति से परमाणु गमन करता होगा, क्योंकि मंदतम गति कहना भी आपेक्षिक निरूपण है प्रकेवल नहीं। वीरसेन के अनुसार, ऐसा प्रतीत होता है, कि परमाणु ऐसे एक समय में १४ राजु प्रमाण दूरी भी अतिक्रमण कर सकता है। पर, पुनः समय अपरिभाषित ही रहता है, क्योंकि एक समय में विभिन्न दूरियों का अतिक्रमण गति को स्पष्ट कर देता है, पर स्वयं अस्पष्ट रहता है। यदि समय को अविभागी मानते हैं तो एक समय में १४ राजु अतिक्रमण होने से, ७ राजु अतिक्रमण कब हुआ होगा— इस तर्क का स्पष्टीकरण नहीं होता, क्योंकि $\frac{१}{२}$ समय, "अविभाज्य" कल्पना के आधार पर सम्भव नहीं है। इस प्रकार यह कथन एक उपधारणा (postulate) बन जाता है, जहां तर्क और विवाद को स्थान नहीं है। डाक्टर आइंस्टीन ने भी प्रकाश की अचल गति के सिद्धान्त को उपधारित कर, माइकेल्सन मारले प्रयोग आदि को समझाया है, जहां यदि प्रकाश की लहर पर ही बैठकर, प्रकाश के समान गतिमान होकर कोई अवलोकन कर्त्ता गमन करे तो वह यही अनुभव करेगा कि प्रकाश उसके आगे वही गति से जा रहा है, जैसा कि उसने गतिहीन अवस्था में अनुभव किया था। ऐसे लोक सत्य (universal truth) का अनुभव छद्मस्थ नहीं कर सकते। पर, गणितीय अंतर्दृष्टि से यह सम्भव है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो एलिया के ज़ीनो ने अंतिम दो तर्कों द्वारा इसी प्रश्न का समाधान करने का प्रयास किया हो। ज़ीनो (४९५ ? ४३५ ? ईस्वी पूर्व) के चार तर्कों का सर्वमान्य समाधान गत प्रायः २३०० वर्षों से नहीं हो सका है। विशेष विवरण के लिये "Greek Mathematics by Heath, pp. 271-283, Edn. 1921". द्रष्टव्य है।

काल प्राप्त किया गया है। वह अचलात्म है जो $(८४)^{३१} \times (१०)^{९०}$ वर्षों के समान है। मूल में दो बीच के नाम नहीं दिये गये हैं जिससे $(८४)^{२९} \times (१०)^{८०}$ वर्ष ही प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यह संख्यात काल के वर्षों की गणना द्वारा, उत्कृष्ट संख्यात प्राप्त हो जाने तक ले जाने का संकेत है। अगले पृष्ठ पर उत्कृष्ट संख्यात प्राप्त करने की रीति दी गई है।

गा. ४, ३१०-१२—यहां यह बात उल्लेखनीय है कि जैनाचार्यों ने प्राकृत संख्याओं एवं राशि (set) सिद्धान्त के द्वारा असंख्यात और अनन्त की अवधारणाओं का दर्शन कराने का प्रयत्न किया है। असंख्यात और अनन्त की प्राप्ति प्राकृत संख्याओं पर क्रमबद्ध क्रियाओं द्वारा तथा असंख्यात एवं अनन्त गणात्मक संख्यावाली राशियों की सहायता से की है। यह बात भी सूचित कर दी गई है कि 'संख्यात' चौदह पूर्व के ज्ञाता श्रुतकेवली का विषय है (देखिये पृ० १८०), 'असंख्यात' अवधिज्ञानी का विषय है (पृ० १८२), और 'अनन्त' केवली का विषय है (पृ० १८३), अर्थात् इन्हीं निर्दिष्ट व्यक्तियों को इनका दर्शन (perception) हो सकता है। जैसे, असंख्यात प्रदेशों युक्त सूच्यंगुल की सरल रेखा का दर्शन हमारे लिये सहज है, उसी तरह 'अनन्त रूप में अवस्थित' ज्ञान की सामग्रियां केवली के लिये अनन्त रूप में दृष्टिगोचर होती होंगी। इस पर सभी एक मत न हों, पर ज्ञान के विकास के इतने उच्च श्रेणियुक्त आदर्श की कल्पना करना भी हानिप्रद नहीं है।

अनन्त (infinite)[१] के कई प्रकार[२] जैनाचार्यों ने स्थापित किये हैं : जैसे, (१) नामानन्त (Infinite in Name), स्थापनानन्त (A ttributed Infinite), (३) द्रव्यानन्त (Infinity of substances), (४) गणनानन्त[३] (Infinite in Mathematics), (५)

१ "In history of Western philosophy the term. 'Infinite' το απειρον is met with, apparently for the first time, in the teaching of Anaximander (6th cent. B.C.). He used it to describe what he conceived to be the primal matter, 'principle', or origin of all things."—Encyclopaedia Brittannica, Vol. 12, p. 340, Edn. 1929.

२ "The chief types of infinitude which come to the attention of the mathematician and philosopher are cardinal infinitude, ordinal infinitude, the infinity of measurement, the ∞ of algebra, the infinite regions of geometry and the infinite of metaphysics".—The Encyclopedia Americana, vol 15, p. 120. Edn. 1944.

३ आगे, गणितीय अनन्त धारणा को निम्न लिखित रूप से इस तरह प्रदर्शित किया है, "If the law of variation of a magnitude is such that x becomes and remains greater than any preassigned magnitude however large, then x is said to become; infinite, and this conception of infinity is denoted by ∞ " इसी के सम्बन्ध में जेम्स पायरपांट (James Pierpont) लिखते हैं, "Historically the first number to be considered were the positive integers 1, 2, 3, 4, 5, 6...we shall denote this system of numbers by ω. This system is ordered, infinite......The symbols $+\infty$, $-\infty$ are not numbers; ie, they do not lie in ω. They are introduced to express shortly certain modes of variation which occur constantly in our reasonings." The Theory of Functions of Real Variables, Vol. 1, p. 86.

एक प्रसिद्ध गणितज्ञ का अनन्त के सम्बन्ध में विचार इस प्रकार उल्लेखित है :—"An infinite number, "says Bosanquet, "would be a numb r which is no particular number, for every particular is finite It follows from this that infinite number is unreal." The Encyclopedia Americana, Vol. 15, p. 121. पर जैनाचार्यों द्वारा दी गई अनन्त की

(आगे के पृष्ठ पर देखिये)

अप्रदेशिकानन्त (Dimensionless Infintesimal), (६)-एकानन्त (One directional Infinity), (७) उभयानन्त (Two directional Infinity), (८) विस्तारानन्त (Superficial Infinity), (९) सर्वानन्त (Spatial Infinity), (१०) भावनानन्त (Infinity of Knowledge), (११) शाश्वतानन्त (Everlasting).

आगे, गणनानन्त का विशद विवेचन दिया गया है।

सबसे पहिले स्थूल रूप से संख्या को जैनाचार्यों ने तीन भागों में विभाजित किया है; (१) संख्यात Finite or numerable, (२) असंख्यात Innumerable, और (३) अनंत Infinite.

यहां हम, सुविधा के लिये, वैज्ञानिक ढंग से प्रतीकों द्वारा इन विभाजनों का निरूपण करेंगे। संख्यात को S, असंख्यात को A, तथा अनन्त को I के द्वारा निरूपित करेंगे। संख्यात को तीन भागों में विभाजित किया गया है: जघन्य संख्यात, मध्यम संख्यात और उत्कृष्ट संख्यात जिन्हें हम क्रमशः Sj, Sm, और Su लिखेंगे। असंख्यात को पहिले परीतासंख्यात, युक्तासंख्यात और असंख्यातासंख्यात में विभाजित कर, पुनः प्रत्येक को जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट में विभाजित किया गया है, जिन्हें हम क्रमशः Ap, Ay, Aa और Apj, Apm, Apu; Ayj, Aym, Ayu और Aaj, Aam, Aau द्वारा निरूपित करेंगे। इसी प्रकार, अनन्त का पहिले परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त में विभाजन के पश्चात् इनमें से प्रत्येक को जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट श्रेणी में रखा है। हम इन्हें क्रमशः Ip, Iy, Ii और Ipj, Ipm, Ipu; Iyj, Iym, Iyu तथा Iij, Iim, Iiu द्वारा निरूपित करेंगे।

उत्कृष्ट संख्यात (Su) को प्राप्त करने के लिये निम्न लिखित क्रिया का वर्णन है:— जम्बूद्वीप के समान लम्ब वर्तुल रम्भाकार १ लाख योजन विष्कम्भ (Diameter) वाले तथा १ हजार योजन उत्सेध (height) वाले चार कुंड स्थापित करते हैं। ये क्रमशः शलाका कुंड, प्रतिशलाका कुंड, महाशलाका कुंड और अनवस्थित कुंड कहलाते हैं।

अन्तिम अनवस्थित कुंड को यदि दो सरसों से भरा जावे तो इस राशि प्रमाण जघन्य संख्यात होता है। Sj=२। यहां यह उल्लेखनीय है कि १ की गणना, संख्यात में नहीं है। यह प्रथम विकल्प है। २ से ऊपर की वे सब संख्याएं जो उत्कृष्ट संख्यात तक प्राप्त नहीं होतीं, मध्यम संख्यात [Sm > २ पर Sm < Su] के विकल्प हैं। इस अनवस्थित कुड को पूरा भरकर एक एक सरसों उत्तरोत्तर द्वीपों और समुद्रों में देता चला जाय। (त्रिलोकसार [गा. २८] में कुंड इस प्रकार भरने को कहा गया है कि सर्वोच्च सतह पर एक सरसों समावे जिससे रम्भ के ऊपर एक शंकु भी स्थित हो जाती है और इस तरह कुल समाये हुए सरसों के बीजों की गणना १९९७११२९३८४५१३१६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६४५ प्राप्त होती है। यहां यह नहीं ज्ञात है कि शंकु की ऊँचाई कितनी और क्यों ली गई। केवल रम्भ में (१९७९१२०९२९९९६८) × (१०)^३१ सरसों समाते हैं।) चूँकि सरसों

परिभाषा इन परिभाषाओं और अवधारणाओं से भिन्न है। फिर भी, वह अवधारणा गेलिलियो (१५६४–१६४२) और जार्ज कैंटर (१८४५–१९१८) के "Continuum of indivisibles" तथा "Theory of real numbres" से किस प्रकार सम्बन्धित है यह निम्न लिखित से कुछ स्पष्ट हो जावेगा। अनन्त राशियों के सम्बन्ध में गेलिलियो के लेख का अवतरण श्री बेल द्वारा रचित "Development of mathematics" के पृष्ठ २७३ से उद्धृत किया जाता है—

"Salv.—I see no other decision that it may admit, but to say, that all Numbers are infinite; Squares are infinite; and that neither is the multitude of squares less than all Numbers, nor this greater than that: and in conclusion, that the Attributes

(आगे के पृष्ठ पर देखिये)

की संख्या युग्म (Even Number) है, इसलिये अन्तिम सरसों उपर्युक्त संख्या के द्वीप, समुद्रों का अतिक्रमण कर समुद्र में गिरेगा। जिस समुद्र में गिरे उसके विष्कम्भ के बराबर फिर से वेलनाकार १००० योजन गहरा कुंड खोदकर उसे सरसों से पूर्ण भरे और इसी समय ऊपर लिखी हुई क्रिया की समाप्ति को दर्शाने के लिये शलाका कुंड में एक सरसों डाले। इस प्रकार की क्रिया फिर से की जाय ताकि यह दूसरा कुंड भी खाली हो जाय; तभी शलाका कुंड में दूसरा सरसों डाले और जिस द्वीप या समुद्र में उपर्युक्त कुंड का अन्तिम सरसों पड़े उसी के विष्कम्भ का और १००० योजन गहराई का वेलनाकार कुंड खोदकर फिर उसे सरसों से भरकर पुनः खाली कर शलाका कुंड में तीसरा सरसों डाले।

यह क्रिया करते करते जब शलाका कुंड भी भर जाये तब प्रतिशलाका कुंड भरना आरम्भ करे। जब वह भी भर जाये तब एक एक सरसों उसी प्रकार महाशलाका कुंड में भरना आरम्भ करे। उसके पूरा भरने पर सख्यात द्वीप समुद्रों का अतिक्रमण कर अन्तिम सरसो जिस द्वीप या समुद्र में पड़े उसी के विस्तार का और १००० योजन गहराई का कुंड खोदकर उसे सरसों से पूर्ण भर दे। जितने सरसों इस गड्ढे में समावेंगे वह जघन्य परीतासंख्यात Apj है और इसमें से १ घटा देने पर उत्कृष्ट संख्यात प्राप्त होता है।

$$Su = Apj - १$$

इस प्रकार $Su > Sm > Sj > १$

और $Apj > Su$ तथा परिभाषानुसार

$$Apu > Apm > Apj \text{ है।}$$

Apu अर्थात् उत्कृष्ट परीत असख्यात प्राप्त करने के लिये इसी का विरलन करके, एक एक रूप के प्रति वही सख्या देकर परस्पर गुणन करने से जघन्य युक्तासख्यात प्राप्त होता है, जो उत्कृष्ट परीत असंख्यात से केवल १ अधिक होता है :—

$$[Apj]^{Apj} = Ayj = Apu + १$$

इसके पश्चात् परिभाषा के अनुसार,

$$Ayu > Aym > Ayj > Apu \text{ है।}$$

उत्कृष्ट युक्त असख्यात प्राप्त करने के लिये, जघन्य युक्त असंख्यात का वर्ग करने से जो जघन्य असंख्यात प्राप्त होता है, उसमें से १ घटाना पड़ता है:—

$$[Ayj]^२ = Aaj = Ayu + १$$

तथा $Aau > Aam > Aaj > Ayu$ है।

Aau का मान Ipj से १ कम है। इस Ipj (जघन्य परीत अनंत) को प्राप्त करने के लिये निम्न लिखित क्रिया है—

---

of Equality, Majority, and Minority have no place in Infinities, but only in terminate quantities......". यहां Numbers का आशय केवल प्राकृत संख्याओं १, २, ३...इत्यादि से है।

अब, इसी पुस्तक में पृष्ठ २७५ पर अंकित यह अवतरण देखिये—

"Resolving Simplicius' doubt about the conceit of 'assigning an Infinite bigger than an Infinite,' Cantor proceeded to describe any desired number of such bigger Infinities. First, there is said to be no difficulty in imagining an orderd infinite class; the natural numbers 1 2, 3,......themselves suffice. Beyond all these, in ordinal numeration, lies ω; beyond ω lies $\omega+1$, then $\omega+2$, and so on, until $\omega 2$ is reached, when $\omega 2+1$, $\omega 2+2$,......are attained, beyond all these lies ω^2, and

आरम्भ में Aaj की दो प्रतिराशियां स्थापित करते हैं, इनमें से एक Aaj राशि को शलाका प्रमाण स्थापित करते हैं। दूसरी Aaj राशि को विरलित कर उतनी ही राशि पुंज को १, १, रूप में स्थापित कर, परस्पर में गुणन कर b राशि उत्पन्न करते हैं, और Aaj शलाका प्रमाण राशि में से १ घटा देते हैं। अब b राशि का विरलन कर १, १, रूप को b राशि ही देकर परस्पर गुणन करके c राशि उत्पन्न करते हैं और अब Aaj शलाका प्रमाण राशि में से १ और घटा देते हैं। यह क्रिया तब तक करते जाते हैं, जब तक कि शलाका प्रमाण राशि Aaj समाप्त नहीं हो जाती। प्रतीक रूप से;

$[Aaj]^{Aaj} = b\ ;\ [b]^{b} = c\ ;\ [c]^{c} = d\ ;\ [d]^{d} = e;$

इसी प्रकार करते जाने के पश्चात् जब Aaj बार यह क्रिया हो चुके तब मान लो j राशि उत्पन्न होती है।

फिर से, j राशि की दो प्रति राशियां करके, एक को शलाका रूप स्थापित कर और दूसरी को विरलित कर, एक, एक अंक के प्रति j ही स्थापित कर परस्पर गुणन करने से जो k राशि उत्पन्न हो तो शलाका प्रमाण राशि j में से एक घटा देते हैं। फिर इस k को लेकर उसी प्रकार विरलित कर, १, १ रूप के प्रति k, k, स्थापित करने पर जो l राशि उत्पन्न हो तो शलाका प्रमाण स्थापित राशि j में से १ और घटा देते हैं। इस प्रकार यह क्रिया तब तक करते जाते हैं, जब तक कि j शलाका राशि समाप्त नहीं हो जाती। प्रतीक रूप से;

$[\,j\,]^{j} = k\ ;\ [k]^{k} = l\ ;\ [\,l\,]^{l} = m, \ldots$ इत्यादि जब तक करते जाते हैं, जब तक कि j बार यह क्रिया न हो जावे, और अंत में मान लो P राशि उत्पन्न होती है।

अब फिर से P राशि की दो प्रतिराशियां करके, एक को शलाकारूप स्थापित कर और दूसरी को विरलित कर, एक, एक अंक के प्रति P ही स्थापित कर परस्पर गुणन करने से जो Q राशि उत्पन्न

---

beyond this ω^2+1, and so on, it is said, indefinitely and for ever. If the first step— after which all the rest seems to follow of itself— offers any difficulty, we have to grasp the scheme 1, 3, 5,…' 2n+1,……12, in which, after all the odd natural numbers have been counted off, 2, which is not one of them, is imagined as the next in order. One purpose of Cantor in constructing these transfinite ordinals. ω, $\omega+1$……was to provide a means for the counting of well ordered classes. a class being well-ordered if its members are ordered and each has a unique 'Successor'."

इसके पश्चात् दूसरे अवतरण में इसी पृष्ठ पर उल्लिखित है—

"For cardinal numbers also Cantor described 'an Infinite bigger than an Infinite' to confound the Simpliciuses……. He proved (1874) that the class of all algebraic numbers is denumerable, and gave (1878) a rule for constructing an infinite non-denumerable class of real numbers. Were we to make a list of specta cularly unexpected discoveries in mathmatics, there two might head our list."

परन्तु, जहां जैनाचार्यों ने वरिमा में स्थित प्रदेश बिन्दुओं की संख्या समतल या सरल रेखा पर, स्थित प्रदेश बिन्दुओं की सख्या से भिन्न मानी है, वहां जार्ज कैंटर ने असद्भासी-सा दिखनेवाला प्रतिपादन किया है जो इसी पुस्तक में पृष्ठ २७७ पर इस प्रकार अंकित है— "Cantor proved that in each instance all the points in the whole space can be put in one-one correspondence with

हो, तो शलाका प्रमाण राशि P में से एक घटा देते हैं। फिर Q को लेकर उसी प्रकार विरलित कर, १, १ रूप के प्रति Q, Q स्थापित करने पर जो R राशि उत्पन्न होती है, तो शलाका प्रमाण स्थापित राशि P में से १ और घटा देते हैं। इस प्रकार यह क्रिया तब तक करते जाते हैं, जब तक कि शलाका राशि P समाप्त नहीं हो जाती। प्रतीक रूप से;

$[P]^P = Q, \ [Q]^Q = R$ इत्यादि

और जब यह क्रिया P बार की जा चुके तब अंत में उत्पन्न हुई राशि मान लो T है। ऐसा प्रतीत होता है कि वीरसेनाचार्य ने D को Aaj की तीसरी बार वर्गित सम्वर्गित राशि कहा है। हम, इस तीसरी बार वर्गित सम्वर्गित प्रक्रिया के लिये $\overline{\quad}|^3$ संकेतना का उपयोग करेंगे।

---

all the points on any straight-line segment. In a plane, for example, there are precisely as many points on a segment an inch long as there are in the entire plane. (?) This, of course, is contrary to common sense; but common sense exists chiefly in order that reason may have its simpliciuses to contradict & enlighten".

और, अभिनवावधि में ही प्रसाधित वह प्रश्न जिसने कैंटर को भी स्तब्ध कर दिया था, यह था, "Another problem which baffled Cantor was to prove or disprove that there exists a class whose cardinal number exceeds that of the class of natural numbers and is exceeded by that of the class of real numbers..." इस प्रकार के अल्पबहुत्व (comparability) सम्बन्धी प्रकरण में जैनाचार्यों ने जो परिणाम सूत्रों द्वारा उल्लिखित किये हैं वे खोज की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

विशद विवेचन के लिये Fraenkel की "Abstract Set Theory" दृष्टव्य है।

आगे, जैनाचार्यों की अनन्ती की अवधारणा से हारवर्ड के प्रोफेसर रायस की निम्न लिखित कुछ अवधारणाओं से तुलना करिये, जो Encyclopedia Americana vol. 15 के पृष्ठ १२० आदि से यहां उद्धृत की गई है :

"1) The true infinite, both in magnitude and in organisation, although in one sense endless, & so incapable in that sense of being completely grasped, is in another, and precise sense, something perfectly determinate.

2) This determinateness is a character which indeed, includes and involves the endlessness of an infinite series, but the mere endlenness of an infinite series is not its primary character, but simply a negatively result of the self representative character of the whole system.

3) The endlessness of this series means that by no merely successive process of counting in God or in man, is its wholeness ever exhausted.

4) In consequence the whole endless series in so far as it is a reality must be present, as a determinate order, but also all at once, to the absolute experience. It is the process of successive counting, as such, that remains, to the end incomplete so as to imply that its own possibilities are not yet realized ......"

गणित के इतिहासकारों द्वारा कहा जाता है कि सबसे पूर्व प्राकृत सख्याओं के द्वारा इस संहति से दूसरी नवीन संहति (मिन्नों) की खोज वेबीलोन और मिश्र के निवासियों ने व्युत्क्रम करने की रीति (Method of Inversion) से की थी। प्राथमिक व्युत्क्रम की अन्य रीतिया योग और वियोग;

यहां उल्लेखनीय है कि तिलोयपण्णत्ति की उपर्युक्त शलाका निष्ठापन विधि से जो राशि प्राप्त होती है वह उपर्युक्त तीसरी बार वर्गित सम्वर्गित राशि से कई कदम (steps) आगे जाकर प्राप्य है। इस प्रकार वीरसेन तथा यतिवृषभ की इस विषयक निरूपणा (treatment) भिन्न भिन्न है जिससे परिकलित औपचारिक असंख्यात एवं औपचारिक अनन्त की अर्हाएं भिन्न प्राप्त होती हैं। यह तथ्य ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

ग्रंथकार कहते हैं कि इतने पर भी उत्कृष्ट असंख्यात-असंख्यात प्राप्त नहीं होता। धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, लोकाकाश और एक जीव; इन चारों की प्रदेश (Spatial Points) संख्या लोकाकाश में स्थित प्रदेशों की गणात्मक संख्या प्रमाण है। प्रत्येक शरीर और बादर प्रतिष्ठित राशियां (अप्रतिष्ठित प्रत्येक राशि और प्रतिष्ठित प्रत्येक राशि) दोनों क्रमशः असंख्यात लोक प्रमाण हैं। इन छहों असंख्यात राशियों को T में मिलाकर प्राप्त योग से पहिले के समान तीन बार वर्गित सम्वर्गित राशि प्राप्त करते हैं। फिर भी, उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात राशि उत्पन्न नहीं होती। मान लो उपर्युक्त क्रिया करने पर U राशि उत्पन्न होती है।

इस तरह प्राप्त U राशि में स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान, मन, वचन, काय योगों के अविभागप्रतिच्छेद और उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल के समय[१], इन राशियों को मिलाकर पूर्व के ही समान तीन बार वर्गित सम्वर्गित करने पर जो राशि V उत्पन्न होती है वह जघन्य परीतअनंत (lpj) प्रमाण संख्या होती है। इसमें से १ घटाने पर उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात प्रमाण संख्या प्राप्त होती है। प्रतीक रूप से

$$lpj = Aau + १ = V + १$$

और $lpu > lpm > lpj$

इसके पश्चात् जघन्य युक्तानन्त प्राप्त करते हैं।

घात बढ़ाना और मूल निकालना हैं। ये सभी क्रियाएं प्राचीन काल में ज्ञात थीं। मूल निकालने की क्रिया से अपरिमेय संख्याओं का तथा ऋणात्मक संख्याओं के मूल निकालने से काल्पनिक संख्याओं का आविष्कार हुआ। जैनाचार्यों ने शलाकात्रय निष्ठापन विधि से तथा उपधारित असंख्यात राशियों के योग से ऐसी संख्याओं को निकालने का प्रयत्न किया जिन्हें उन्होंने असंख्यात संज्ञा दी, तथा उपधारित अनन्त राशियों के मिश्रण द्वारा प्राप्त राशियों से प्राप्त प्रमाण संख्याओं को अनन्त संज्ञा दी— अनन्त अर्थात् जिसे उत्तरोत्तर गिनकर अथवा व्यय कर या एक अथवा संख्यात अलग कर कभी भी समाप्त न किया जा सके।

१ "The biggest unit of time is the Maha-kalpa (महाकल्प) made up of two aeons Avsarpni and Utsarpni, each consisting of 413452630308203177749512192000000000000000000000000000000000000000000-0000 (77 digits) solar years. (The Brahm Kalpa of the Hindus also consits of 77 digits but the digits do not agree)", Cosmology Old and New, Page 231.

धर्म द्रव्य के प्रदेश असंख्यात, अधर्म द्रव्य के प्रदेश असंख्यात तथा उस एक जीव के (जो केवलीसमुद्घात के समय सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हो जाता है) प्रदेश भी असंख्यात माने गये हैं। लोक के प्रदेश असंख्यात हैं। असख्यात लोक प्रमाण का अर्थ लोक के प्रदेशों की गणात्मक संख्या असंख्यात राशि की असंख्यातगुनी राशि। प्रत्येक शरीर और बादरप्रतिष्ठित जीवों को Souls in ordinary vegetation और Souls in vegetable parasitic groups कहा जा सकता है।

$Iyj = [Ipj]^{Ipj}$ = अभव्य सिद्ध राशि

और $Iyj = Ipu + 1$

फिर $Iyu > Iym > Iyj > Ipu$

तथा $Iij = [Iyj]^2 = Iyu + 1$

Iij से उत्कृष्ट अनन्तानन्त प्राप्त करने के लिये जघन्य अनन्तानन्त को पूर्ववत् तीसरी बार वर्गित सम्वर्गित करने पर भी Iiu प्राप्त नहीं होता[1]। मान लो ∝ प्रमाण संख्या प्राप्त होती है। इस ∝ मे सिद्ध, निगोद जीव, वनस्पति, काल, पुद्गल और समस्त अलोकाकाश की छह अनन्त गणात्मक सख्याओं को मिलाकर योग को पूर्ववत् तीन बार वर्गित संवर्गित करते हैं, तिस पर भी उत्कृष्ट अनन्तानन्त प्राप्त न होकर मान लो β राशि उत्पन्न होती है। इस β में, तत्र, केवलज्ञान अथवा केवलदर्शन के अनन्त बहुभाग (उक्त प्रकार से प्राप्त राशि से हीन १) मिलाने पर Iiu उत्पन्न होता है। वह भाजन है, द्रव्य नहीं है; क्योंकि इस प्रकार वर्ग करके उत्पन्न सब वर्ग राशियों का पुंज $(\beta\text{-}1)$ केवलज्ञान केवलदर्शन के अनन्तवें भाग है। यह ध्यान देने योग्य है कि Aa तथा Ii को Aam तथा Iim अथवा अजघन्यानुत्कृष्ट Aa तथा Ii निर्देशित किया गया है।

अब हम कुछ उल्लेखनीय बातों का विवेचन करेंगे। यद्यपि अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवों की सख्या का प्रमाण लोकाकाश में माने गये प्रदेशों की सख्या से असख्यातगुणा है, तथापि उपचार से उस प्रमाण को असंख्यात सज्ञा दी गई है। इसी प्रकार, यद्यपि उपरोक्त प्रमाण से असख्यात लोक प्रमाण संख्या गुणा प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव राशि के गणात्मक का प्रमाण है तथापि उपचार से उसे असंख्यात लोक प्रमाण कहा गया है। स्मरण रहे कि 'असंख्यात' शब्द से केवल एक संख्या का बोध नहीं होता, वरन् उस सीमा में रहनेवाली सख्याओं का बोध होता है जो न तो संख्यात हैं और न अनन्त। इस प्रकार असख्यात संख्या की असंख्यातगुणी संख्या भी असंख्यात सीमा में ही रहेगी, उसका उलंघन न करेगी। जैसा, मुझे प्रतीत होता है, उसके अनुसार, मध्यम असंख्यात-असंख्यात भी सख्यात है। अर्थात् उसकी गणना हो सकती है, पर उसे उपचार रूप से असख्यात की उपाधि दे दी गई है। वास्तविक असख्येयता तभी प्रविष्ट करती है जब कि धर्मादि द्रव्यों के असख्यात प्रमाण प्रदेशों से मध्यम असख्यातासंख्यात को युक्त करते हैं। इसके पूर्व, उत्कृष्ट संख्यात तक ही श्रुतकेवली का विषय होने के कारण, तदनुगामी संख्या यद्यपि असख्यात कहलाती है, पर परिभाषानुसार नहीं होतीं, उपचार से कहलाती हैं। असंख्यात लोक प्रमाण स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान प्रमाण सख्या का आशय स्थितिबन्ध के लिये कारणभूत आत्मा के परिणामों की सख्या है। इसी प्रकार इससे भी असंख्यात लोक गुणे प्रमाण अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान प्रमाण संख्या का आशय अनुभागबन्ध के लिये कारणभूत आत्मा

---

[1] सिद्धों की संख्या अभी तक अनन्त मानी गई है पर वह सम्पूर्ण लोक के जीवों की कुल संख्या से अनन्तगुनी हीन है। निगोद जीवों (akin to bacteria and unicellular organism of modern biology but conceived to die and to come to life eighteen times during time of one breath) की संख्या सिद्धों की संख्या से अनन्तगुनी बडी मानी गई है। वनस्पतिकाय जीवों की संख्या भी सिद्धों की संख्या से अनन्तगुनी बड़ी मानी गई है। उसी प्रकार लोकाकाश के पुद्गल द्रव्य के परमाणुओं की संख्या जीव राशि से अनन्तगुनी बडी मानी गई है। त्रिकाल में समयों की कुल सख्या पुद्गल के परमाणुओं की संख्या से अनन्तगुनी मानी गई है और अलोकाकाश के प्रदेशों की संख्या अनन्तानन्त मानी गई है।

के परिणामों की संख्या है। इससे भी असंख्यात लोक प्रमाणगुणे, मन वचन काय योगों के अविभाग-प्रतिच्छेदों (कर्मों के फल देने की शक्ति के अविभागी अंशों) की संख्या का प्रमाण होता है।

इसी प्रकार यद्यपि उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात और जघन्य परीतानन्त में केवल १ का अंतर हो जाने से ही 'अनन्त' संज्ञा उपचार रूप से प्राप्त होती है। अवधिज्ञानी का विषय उत्कृष्ट असंख्यात तक का होता है, इसके पश्चात् का विषय केवलज्ञानी का होने से, अनन्त संज्ञा प्राप्त हो जाती है। वास्तव में, व्यय के अनन्त काल तक भी होते रहने पर जो राशि क्षय को प्राप्त न हो उसे 'अनन्त' कहा गया है। इस प्रकार, जब जघन्य अनन्तानन्त की तीन बार वर्गित सम्वर्गित राशि में, अनन्त राशियां मिलाई जाती हैं, तभी उसकी अनन्त संज्ञा सार्थक होती है।

वीरसेनाचार्य ने अर्द्ध पुद्गलपरिवर्तन काल के अनन्तत्व के व्यवहार को उपचार निबन्धनक बतलाया है[1]। भव्य जीव राशि भी अनन्त है।

शंका होती है कि जब अर्द्ध पुद्गलपरिवर्तन काल की समाप्ति हो जाती है तो भव्य जीव राशि भी क्यों क्षय को प्राप्त न होगी? इस पर आचार्य ने कथन किया है कि अनन्त राशि वही है जो संख्यात या असंख्यात प्रमाण राशि के व्यय होने पर भी अनन्त काल से भी क्षय को प्राप्त नहीं होती। अर्द्ध पुद्गलपरिवर्तन काल, यद्यपि 'अनन्त' संज्ञा को अवधिज्ञान के विषय का उलंघन करके प्राप्त है, तथापि असंख्यात सीमा में ही है। इस प्रकार, व्यय के होते रहने पर भी, सदा अक्षय रहनेवाली भव्य जीव राशि समान और भी राशियां हैं जो क्षय होनेवाली पुद्गलपरिवर्तन काल जैसी सभी राशियों के प्रतिपक्ष के समान, उपर्युक्त विवेचनानुसार पाई जाती हैं।

जार्ज कैंटर ने प्राकृत संख्याओं (१, २, ३,······ अनन्त तक) के गणात्मक प्रमाण को एक राशि अथवा कुलक मान किया है, जिसे No (Aleph Nought) प्रतीक से निर्देशित किया है। इस अनन्त प्रमाण राशि से, गण्य (Denumerable) राशियों के प्रमाण स्थापित किये गये हैं और सिद्ध किया गया है कि $२No = No$, तथा $(No)^२ = No$ आदि।

इसी प्रकार No से बड़ी संख्या का आविष्कार, गणित क्षेत्र में अद्वितीय है। कर्ण विधि (Diagonal Method) के द्वारा सिद्ध किया गया है कि

$२No > No$. विशद विवेचन अत्यन्त रोचक है तथा जैनाचार्यों की विधियों से उनका तुलनात्मक अध्ययन, सम्भवतः गणित के लिये नवीन पथ प्रदर्शित कर सकेगा।

यहां ग्रंथकार ने यह भी कथन किया है कि जहां जहां संख्यात S को खोजना हो, वहां वहां अजघन्यानुत्कृष्ट संख्यात (Sm) जाकर ग्रहण करना चाहिये (जो एक स्थिर राशि नहीं है वरन् ३ से लेकर आगे तक की कोई भी राशि हो सकती है जो उत्कृष्ट संख्यात से छोटी है)। उसी प्रकार जहां जहां असंख्यातासंख्यात की खोज करना हो वहां वहां अजघन्यानुत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात (Aam) को ग्रहण करना चाहिये; तथा अंत में जहां जहां अनन्तानन्त का ग्रहण करना हो वहां वहां lim का ग्रहण करना चाहिये।

गा. ४, १४४३— मूल में जो संदृष्टि दी गई है उसमें चौथी पंक्ति में रुद्र की अंक संदृष्टि ४ मान कर प्रतीक रूप से उसे उन चौंतीस कोठों में स्थापित किया गया है।

गा. ४, १६२४— हिमवान् पर्वत की उत्तर जीवा २४९३२ $\frac{१}{१९}$ योजन, तथा धनुपृष्ठ २५२३० $\frac{४}{१९}$ योजन है। यह सब गणना, उपर्युक्त सूत्रों से, π का मान $\sqrt{१०}$ मान कर की गई है।

---

१ षट्खंडागम, पुस्तक ४, पृष्ठ ३३८, ३३९.

(गा. ४, १७८० आदि)

मान को प्रमाण न लेकर मेरु पर्वत का आकार आकृति–२८ 'अ', 'ब' से स्पष्ट हो जावेगा—

आकृति-२८ 'अ'

PLAN
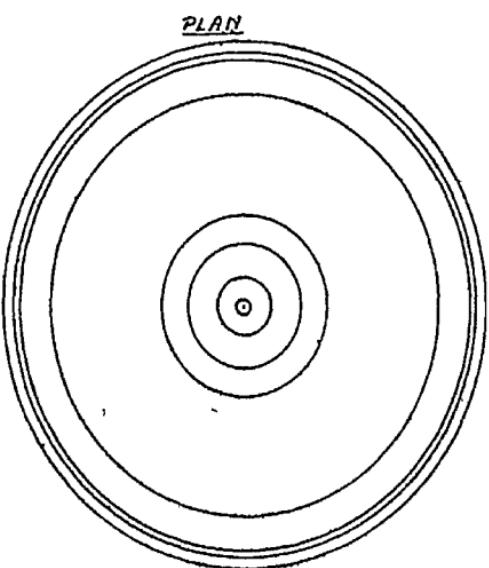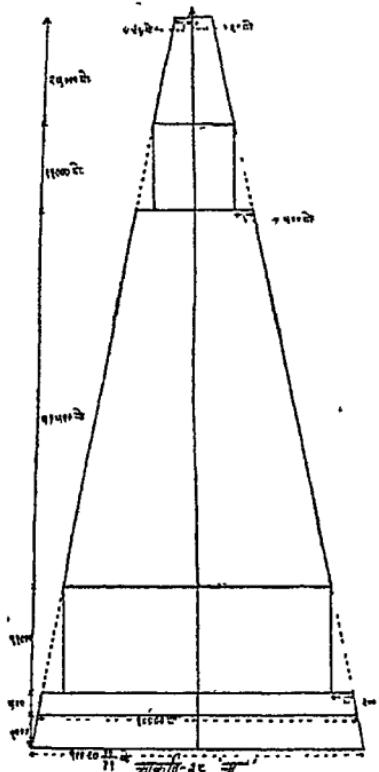
आकृति २८ 'ब'

यह आकृति रम्भों तथा शंकु समच्छिन्नकों से बनी हुई है। मूल गाथा में इसे समान गोल शरीर-वाला मेरु पर्वत 'समवट्टतणुस्स मेरुस्स' कहा गया है। सबसे निम्न भाग में चौड़ाई या समतल आधार का व्यास १००९०$\frac{१०}{११}$ योजन है और यह समान रूप से घटता हुआ १००००० योजन ऊँचाई पर, केवल १००० योजन चौडा रह गया है।

मेरु पर्वत का समान रूप से ह्रास ऊपर की ओर होता है। प्रवण रेखा लम्ब से θ कोण बनाती है जिसकी स्पर्श निष्पत्ति, स्प $\theta = \frac{\text{ख ग}}{\text{क ख}} = \frac{४५००}{९९०००} = \frac{५००}{११०००}$ है। यहां आकृति–२९ अ और ब देखिये।

आकृति–२९ 'अ' २९ 'ब' २९ 'स' २९ 'द'
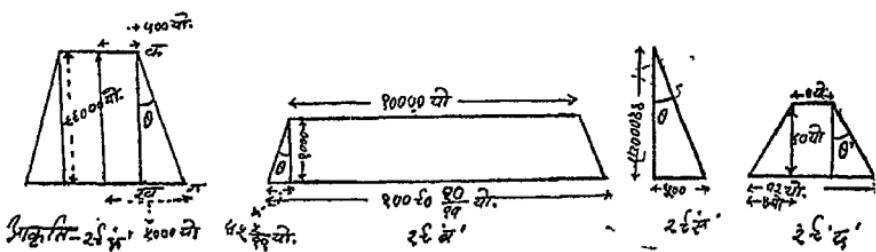
मूल भाग में १००० योजन तक समरूप से यह पर्वत ह्रासित होता गया है। व्यास, तल में १००९०$\frac{१०}{११}$ योजन है तथा १००० योजन ऊँचाई पर १०००० योजन है। इसलिये, प्रवण रेखा यहां भी

उदग्र रेखा से θ कोण पर अभिनत है, जिसकी स्पर्श निष्पत्ति स्प $\theta = \frac{४५\frac{५}{११}}{१०००} = \frac{५००}{११०००}$ है।

इसके पश्चात्, ५०० योजन की ऊँचाई पर जाकर व्यास ५०० योजन चारों ओर से घट जाता है तथा इसी व्यास का स्तम्भ ११००० योजन की ऊँचाई तक रहता है।

यहां (आकृति–२९ स) उदग्र रेखा अथवा स्तम्भ की जनन रेखा प्रवण रेखा से θ कोण बनाती है, जिसकी स्पर्श निष्पत्ति फिर से स्प $\theta = \frac{५००}{११०००}$ है।

इसी प्रकार, ५१५०० योजन ऊपर जाकर व्यास चारों ओर ५०० योजन घटता है तथा उस पर ११००० योजन उत्सेध की स्तम्भ स्थापित रहती है। अंत में २५००० योजन ऊपर और जाकर ५०० योजन त्रिज्या चारों ओर से ४९४ योजन कम होती है, इसलिये केवल १२ योजन चौड़े तलवाली तथा ४० योजन उत्सेध की, मुख में ४ योजन व्यासवाली चूलिका सबसे ऊपर, अंत में, रहती है (आकृति–२९ द)। चूलिका की पार्श्व रेखा उदग्र से θ' कोण बनाती है जिसकी स्पर्श निष्पत्ति स्प $\theta' = \frac{४}{४०} = \frac{१}{१०}$ है।
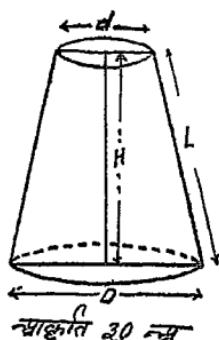
आकृति ३० अ

गा. ४, १७९३ — इस गाथा में, शंकु के समच्छिन्नक की पार्श्व रेखा का मान निकालनेके लिये जिस सूत्र का प्रयोग किया है वह प्रतीकरूप से यह है[1] (आकृति–३० अ) —

यहां भूमि D, मुख d, ऊँचाई h, पार्श्वभुजा को l माना गया है, तदनुसार ;

$$L = \sqrt{\left(\frac{D-d}{२}\right)^२ + (H)^२}$$

गा. ४, १७९७— जिस तरह त्रिभुज संक्षेत्र (Triangular Prism) के समच्छिन्नक (Frustrum) के अनीक समलम्ब चतुर्भुज होते हैं, उसी प्रकार शंकु के समच्छिन्नक को उदग्र समतल द्वारा केन्द्रीय अक्ष में से होता हुआ काटा जावे तो छेद से प्राप्त आकृतियां भी समलम्ब चतुर्भुज प्राप्त होती हैं। इसलिये, यहां सूत्र में, पहिले दिया गया सूत्र उपयोग में लाया जाता है।

आकृति–३० ब

यदि, चूलिका के शिखर से h योजन नीचे विष्कम्भ x निकालना हो, तो निम्न लिखित सूत्र का उपयोग किया जा सकता है। (आकृति–३० ब)
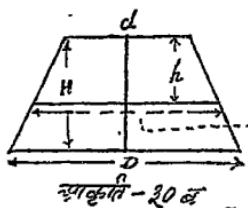
$$x = h \div \left[\frac{D-d}{H}\right] + b$$

$$\text{अथवा } x = D - \left[(H-h) \div \left(\frac{D-b}{H}\right)\right]$$

उपर्युक्त सूत्रों का उपयोग, १७९८–१८०० गाथाओं में किया गया है।

गा. ४, १८९९— इस गाथा में समवृत्त रत्नस्तूप, "समवट्टो चेट्ठदे रयणथूहो" का नाम शंकु के लिये आया है।

गा, ४, ७११ आदि— ग्रंथकार ने समवशरणके स्वरूप को आनुपूर्वी ग्रंथ के अनुसार वर्णन करने में कुछ क्षेत्रों का वर्णन किया है। मुख्य ये हैं—

---

१ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ४।३९.

सबसे पहिले सामान्य भूमि का वर्णन है जो सूर्यमंडल के समान गोल, बारह योजन प्रमाण विस्तारवाली (ऋषभदेव तीर्थंकर के समय की) है। इसके पश्चात्, स्तूप का वर्णन है जिसके सम्बन्ध में आकार, लम्बाई, विस्तार, आदि का कथन नहीं है।

गा. ४, ९०१— सम्भवतः सदा प्रचलित महाभाषाएँ १८ तथा क्षुद्रभाषाएँ (dialects) ७०० हैं[१], ऐसा ज्ञात होता है।

गा. ४, ९०३-९०४— विशेषतया उल्लेखनीय यह वाक्य है "भगवान् जिनेन्द्र की स्वभावतः अस्खलित और अनुपम दिव्य ध्वनि तीनों सध्याकालों मे नव मुहूर्तों तक निकलती है"।

गा. ४, ९२९— यहां उन विविध प्रकार के जीवो की सख्या पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण ही है जो जिन देव की वन्दना में प्रवृत्त होते हुए स्थित रहते हैं।

गा. ४, ९३०-३१— कोठों के क्षेत्र से यद्यपि जीवों का क्षेत्रफल असंख्यातगुणा है, तथापि वे सब जीव जिन देव के माहात्म्य से एक दूसरे से अस्पृष्ट रहते हैं। बालकप्रभृति जीव प्रवेश करने अथवा निकलने में अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर संख्यात योजन चले जाते हैं (यहां इस गति को मध्यम संख्यात ग्रहण करना चाहिये, पर मध्यम सख्यात भी कोई निश्चित सख्या नहीं है)।

गा. ४, ९८७-९७— दूरश्रवण और दूरदर्शन ऋद्धियों की इस कल्पना को विज्ञान ने क्रियात्मक कर दिखलाया है। वह ऋद्धि आत्मिक विकास का फल थी, वह Radio या television भौतिक उन्नति का फल है। दूरस्पर्श तथा दूरघ्राण भी निकट भविष्य में कार्यान्वित हो सकेगा। इसी प्रकार हो सकता है कि दूरस्वादित्व प्रयोग भी सभव हो सके। दूरास्वादित्व की सिद्धि के लिये दशा है: जिह्वेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायका उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा आंगोपाग नामकर्म का उदय हो। सीमा, जिह्वा के उत्कृष्ट विषयक्षेत्र के बाहिर, संख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित विविध रस है। दूरस्पर्शत्व ऋद्धि के लिये सीमा संख्यात योजन है। इसी प्रकार दूरघ्राणत्व ऋद्धिसिद्ध व्यक्ति सख्यात योजनों में प्राप्त हुए बहुत प्रकार की गंधों को सूंघ सकता है। दूरश्रवणत्व तथा दूरदर्शित्व भी संख्यात योजन अर्थात् ४००० मील गुणित संख्यात प्रमाण दूरी की सीमा तक सिद्ध होता है। ऋद्धिसिद्ध व्यक्ति को बाह्य उपकरणों की आवश्यकता न थी, पर आज बाह्य उपकरणों से अनेक व्यक्ति उस ऋद्धि का विशिष्ट दशाओं में लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

आकृति–३१

गा. ४, २०२५— इस गाथा मे अ स ब द अन्तर्वृत्त क्षेत्र का विष्कम्भ निकालने के लिये सूत्र दिया गया है जब कि अ ब जीवा तथा च स बाण दिया गया हो। यहां आकृति–३१ देखिये।

D = वृत्त का विष्कम्भ Diameter

c = जीवा chord

h = बाण height of the segment

$$\text{तब } D = \frac{(c)^2}{4h} + h = \frac{\left(\frac{c}{2}\right)^2 + h^2}{h}$$

$$= \frac{\left(\frac{D}{2}\right)^2 - \left(\frac{D}{2} - h\right)^2 + h^2}{h} = \frac{Dh}{h} = D$$
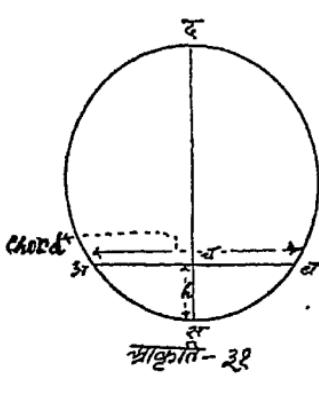
१ अभिनवावधि में प्राप्त "भूवलय" ग्रंथ को अंकक्रम से विभिन्न भाषाओं में पढ़ा जा सकता है। इस पर खोज हो रही है।

गा. ४, २३७४— इस गाथा में धनुष के आकार के (segment) क्षेत्र का सूक्ष्म क्षेत्रफल निकालने के लिये सूत्र दिया गया है।

पिछली गाथा में लिये गये प्रतीकों में

धनुषाकार क्षेत्र (segment) अ स ब च का क्षेत्रफल =

$$\sqrt{\left(\frac{h}{४} C\right)^{२} \times १०} \quad = \frac{hC}{४}\sqrt{१०}$$

यह सूत्र अपने ढंग का एक है। महावीराचार्य ने गणितसारसंग्रह (७।७०½) में इसका उल्लेख किया है। इस सूत्र का प्रयोग अर्द्ध वृत्त का क्षेत्रफल निकालने के लिये किया जाय तो h का मान r और c का मान D लेना पड़ेगा। तदनुसार अर्द्ध वृत्त का क्षेत्रफल $= \frac{r.D}{४}\sqrt{१०} = \sqrt{१०}\frac{r^{२}}{२}$

आकृति — ३२ (अ)

गा. ४, २३९८-२४००— आकृति–३२ अ में बीचका वृत्त क्षेत्र जम्बूद्वीप का निरूपण, तथा शेष क्षेत्र लवण समुद्र का निरूपण करता है।

इसका आकार एक नाव के ऊपर दूसरी नाव रखने से प्राप्त हुई आकृति–३२ ब के समान है।

आकृति- ३२ 'ब'

विवरण से (आकृति–३२ स) ज्ञात होता है कि लवण समुद्र की गहराई १००० योजन है। ऊपर विस्तार १०००० योजन और तल विस्तार २००००० योजन है। चित्र में मान को प्रमाण नहीं लिया गया है। यह समुद्र, चित्रा पृथ्वी के उपरिम तल से ऊपर कूट के आकार से आकाश में ७०० योजन ऊँचा स्थित है।
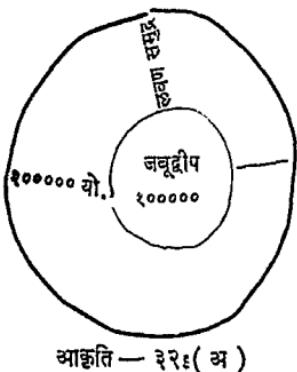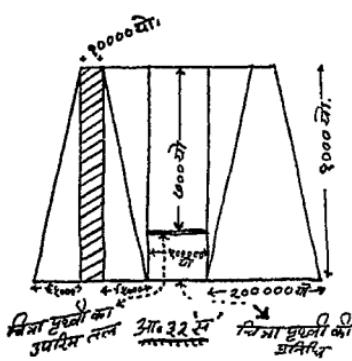
गा. ४,२४०३ आदि— हानि वृद्धि का प्रमाण मेरु आकृति की गणना के समान यहां भी है। १९० हानि वृद्धि प्रमाण लेकर, भूमि अथवा मुख से इच्छित ऊँचाई या गहराई पर, विष्कम्भ निकाला जा सकता है। रेखांकित भाग बहुमध्य भाग है, जहां चारों ओर (घेरे में) उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य एक हजार आठ पाताल हैं। ये सब पाताल घड़े (vessel) के आकार के हैं।
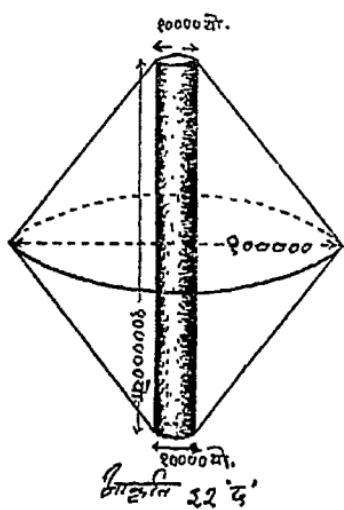
आकृति ३२ 'द'

इस आकृति (३२ द) में ज्येष्ठ पाताल का आकार आदि दिये गये हैं।

ये पाताल क्रम से हीन होते हुए (मध्य भाग से दोनों ओर) नीचे से क्रमशः वायु भाग, जल एवं वायु से चलाचल भाग, और केवल जल भाग में विभाजित हैं।

इन पातालों के पवन सर्व काल शुक्ल पक्ष में स्वभाव से (!) बढ़ते हैं और कृष्ण पक्ष में घटते हैं। शुक्ल पक्ष में कुल पन्द्रह दिन होते हैं। प्रत्येक दिन पवन की २२२२$\frac{२}{९}$ योजन उत्सेध में वृद्धि होती है, इस प्रकार कुल वृद्धि शुक्ल पक्ष के अंत में २२२२$\frac{२}{९}$ × १५ = $\frac{१०००००}{३}$ योजन होती है। इससे जल केवल ऊपरी त्रिभाग में तथा वायु निम्न दो त्रिभागों में $\frac{२०००००}{३}$ उत्सेध तक रहते हैं।

आकृति- ३२ इ

आकृति–३२ इ में रेखांकित भाग, जल एवं वायु से चलाचल है अर्थात् उस भाग में वायु और जल, पक्षों के अनुसार बढ़ते घटते रहते हैं। जब वायु बढ़कर दो त्रिभागों को शुक्लपक्षांत में व्याप्त कर लेती है तो जल, सीमांत का उलंघन कर, आकाश में चार हजार धनुष अथवा दो कोस पहुँचता है। फिर कृष्ण पक्ष में यह घटता हुआ, अमावस्या के दिन, भूमि के समतल हो जाता है। इस दिन, ऊपर के दो त्रिभागों में जल और निम्न त्रिभाग में केवल वायु स्थित रहता है। कम घनत्ववाली वायु का, जल के नीचे स्थित रहना, अस्वाभाविक प्रतीत होता है, किन्तु वह कुछ विशेष दशाओं में सम्भव भी है।

गा. ४, २५२५— ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रंथकार को ज्ञात था कि दो वृत्तों के क्षेत्रफलों के अनुपात उनके विष्कम्भों के वर्ग के अनुपात के तुल्य होते हैं[१]। यदि छोटे प्रथम वृत्त का विष्कम्भ D_1 तथा क्षेत्रफल A_1 हो, और बड़े द्वितीय वृत्त का विष्कम्भ D_2 तथा क्षेत्रफल A_2 हो तो

$$\frac{D_2^2 - D_1^2}{D_1^2} = \left(\frac{A_2 - A_1}{A_1}\right) \text{ अथवा } \frac{D_2^2}{D_1^2} = \frac{A_2}{A_1}$$

गा. ४, २५३२ आदि— इन सूत्रों में एक और आकृति का वर्णन है। वह है, 'इष्वाकार आकृति'। इष्वाकर पर्वत निषध पर्वत के समान ऊंचे, लवण और कालोदधि समुद्र से संलग्न तथा अभ्यंतर भाग में अंकमुख व बाह्य भाग में क्षुरप्र के आकार के बतलाये गये हैं। प्रत्येक का विस्तार १००० योजन और अवगाह १०० योजन है।

१ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, १०।८७, वृत्त के सम्बन्ध में समानुपात नियम २।११–२० में भी है।
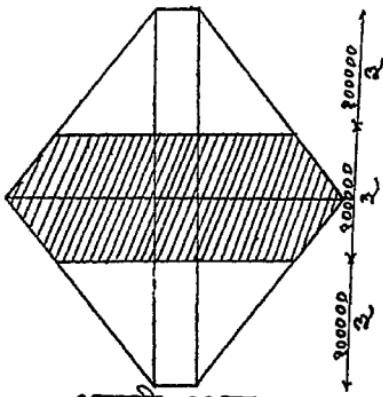
गा. ४, २५७८— १७८१वीं गाथा में वर्णित मुख्य (जम्बूद्वीपस्थ) मेरु के सम्बन्ध में लिखा गया है। इस गाथा में धातकीखण्डद्वीपस्थ मन्दर नामक पर्वत का वर्णन है। इस मेरु का विस्तार तल भाग में १०००० योजन तथा पृथ्वीपृष्ठ पर ९४०० योजन है। यहां हानि वृद्धि प्रमाण $\frac{१००००-९४००}{१०००}=\frac{६}{१०}$ है। यह, अवगाह के लिये है। भूमि से ऊपर, हानि वृद्धि प्रमाण, $\frac{९४००-१०००}{८४०००}=\frac{१}{१०}$ है।

गा. ४, २५९७— इस गाथा मे दिये गये सूत्र का स्पष्टीकरण १८० वीं गाथा में दिया गया है।

गा. ४, २५९८— इस गाथा में दिये गये सूत्र का स्पष्टीकरण २०२५ वीं गाथा में दिया गया है।

गा. ४, २७६१— इस गाथा में दिया गया सूत्र वृत्त का क्षेत्रफल निकालने के लिये है[1]।

$$\text{वृत्त या समानगोल का क्षेत्रफल} = \frac{\sqrt{[D^२]^२ \times १०}}{४} = \frac{D^२ \times \sqrt{१०}}{४}$$

$$= \left(\frac{D}{२}\right)^२ \sqrt{१०} \text{ जिसे हम } \pi r^२ \text{ लिखते हैं।}$$

गा. ४, २७६३— इस गाथा में वलयाकृति वृत्त अथवा वलय के आकार की आकृति का क्षेत्रफल निकालने के लिये सूत्र दिया है[2] (आकृति-३३ देखिये)।
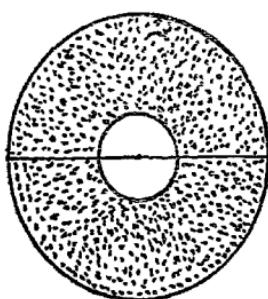
आकृति - ३३

यदि प्रथम वृत्त का विस्तार $D_१$ तथा द्वितीय का $D_२$ माना जाये तो वलयाकार (रेखांकित) क्षेत्र का क्षेत्रफल

$$= \sqrt{\left[२D_२ - (D_२ - D_१)\right]^२ \times \left(\frac{D_२ - D_१}{४}\right)^२ \times १०}$$

$$= \sqrt{१०} \sqrt{\frac{(D_२ + D_१)^२ (D_२ - D_१)^२}{(४)^२}}$$

$$= \sqrt{१०} \left[\frac{D_२^२}{४} - \frac{D_१^२}{४}\right]$$

जिसे हम $\pi [r_२^२ - r_१^२]$ लिखते हैं।

गा. ४, २८१८— इस गाथा में दिये गये सूत्र का स्पष्टीकरण २०२५वीं गाथा में देखिये।

गा. ४, २९२६—

$$\frac{\text{जगश्रेणी}}{[\text{सूच्यंगुल}]^{५।८}} - १ = \text{सामान्य मनुष्य राशि प्रमाण।}$$

इस प्रमाण को इस तरह लिखा गया है :—

जगश्रेणी में सूच्यंगुल के प्रथम और तृतीय वर्गमूल का भाग देने पर जो लब्ध आवे उसमें से एक कम कर देने पर उक्त प्रमाण प्राप्त होता है। यहां [सूच्यंगुल]५।८ को लिखने की शैली, पुष्पदंत और भूतबलि द्वारा संरचित षट्खंडागम के सूत्रों से मिलती जुलती है। जैसे, द्रव्यप्रमाणानुगम में सत्रहवीं गाथा में नारक मिथ्यादृष्टि जीव राशि के प्रमाण का कथन यह है। "·······तासिं सेढीणं विक्खंभसूचीअंगुल-वग्गमूलं विदियवग्गमूलगुणिदेण[3]।"

१ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति १०।९२.

२ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, १०।९१.

३ षट्खंडागम—द्रव्यप्रमाणानुगम, पृष्ठ १३१ .

गा. ५, ३३— इस गाथामें अंतिम आठ द्वीप-समुद्रों के विस्तार भी गुणोत्तर श्रेढि में दिये गये हैं। अन्तिम स्वयंभूवर समुद्र का विस्तार—

(जगश्रेणी ÷ २८) + ७५००० योजन दिया गया है।

इस समुद्र के पश्चात् १ राजु चौड़े तथा १००००० योजन बाहल्यवाले मध्यलोक तल पर पूर्व पश्चिम में

"{१ राजु − [(१/४ राजु + ७५००० यो०) + (१/८ राजु + ३७५०० यो०)
+ (१/१६ राजु + १८७५० यो०) + ········· ५०००० योजन] }"

जगह बचती है। यद्यपि १ राजु में से एक अनन्त श्रेढि भी घटाई जावे तब भी यह लम्बाई १/२ राजु से कुछ कम योजन बच रहती है। यह स्थापना सिद्ध करती है कि उन गणितज्ञों को इस गुणोत्तर, असंख्यात पदोंवाली श्रेढियों के योग की सीमा का ज्ञान भी था।

गा. ५, ३४— यदि २nवें समुद्र का विस्तार D_{2n} मान लिया जाय और २n + १वें द्वीप का विस्तार D_{2n+1} मान लिया जाय तब निम्न लिखित सूत्रों द्वारा परिभाषा प्रदर्शित की जा सकेगी।

$D_a = D_{2n+1} \times 2 - D_1 \times 3 =$ उक्त द्वीप की आदि सूची

$D_m = D_{2n+1} \times 3 - D_1 \times 3 =$,, मध्यम सूची

$D_b = D_{2n+1} \times 4 - D_1 \times 3 =$,, बाह्य सूची

यहाँ D_1 जम्बूद्वीप का विष्कम्भ है।

इस सूत्र का परिवर्तित रूप द्वीपों के लिये भी उपयोग में लाया जा सकता है।

गा. ५, ३५— nवें द्वीप या समुद्र की परिधि $= \frac{D_1 \sqrt{10}}{D_1} \times$ [nवें द्वीप या समुद्र की सूची]

इस सूत्र में कोई विशेषता नहीं है।

गा. ५, ३६— यहाँ इस सिद्धान्त की पुनरावृत्ति है, कि वृत्तों के व्यासों के वर्गों की निष्पत्ति का मान उतना ही होता है जितना कि वृत्तों के क्षेत्रफलों की निष्पत्ति का।

यदि nवें द्वीप या समुद्र की बाह्य सूची Dnb तथा अभ्यंतर सूची (अथवा आदि सूची) Dna प्ररूपित की जावें तो

$\frac{(Dnb)^2 - (Dna)^2}{(D_1)^2}$ = उक्त द्वीप या समुद्र के क्षेत्र में समा जानेवाले जम्बूद्वीप क्षेत्रों की संख्या होती है।

यहाँ D_1 जम्बूद्वीप का विष्कम्भ है तथा $Dna = D_{(n-1)} b$ है, चूँकि किसी भी द्वीप या समुद्र की बाह्य सूची, अनुगामी समुद्र या द्वीप की आदि या आभ्यंतर सूची होती है।

गा. ५, २४२— स्थूल क्षेत्रफल निकालने के लिये, ग्रंथकार ने π का मान स्थूल रूप से ३ ले लिया है और निम्न लिखित नवीन सूत्र दिया है—

nवें द्वीप या समुद्र का क्षेत्रफल $= [Dn - D_1](3)^2\{D_n\}$

यहाँ $[Dn - D_1](3)^2$ को आयाम कहा गया है।

Dn ; nवें द्वीप या समुद्र का विष्कम्भ है।

इस सूत्र का उद्‌गम निकालने योग्य है।

इस सूत्रको दूसरी तरह भी लिख सकते हैं।

$D_n = 2^{(n-1)} D_1$ लिखने पर ,

n वें द्वीप या समुद्र का क्षेत्रफल $= ९[२^{n-१} D_१ - D_१]२^{n-१} D_१$

$= (३D_१)^२ [२^{n-१} - १]२^{n-१}$ होता है।

nवें वलयाकार क्षेत्र का क्षेत्रफल निकालने के लिये सूत्र यह है :—

बादर क्षेत्रफल $= Dn[Dna + Dnm + Dnb]$.

यहाँ Dnb का मान $= [२\{२^{n-१} + २^{n-२} + २^{n-३} + \ldots\ldots + २^२ + २\} + १]D_१$ है।

Dna का मान $= [२\{२^{n-२} + २^{n-३} + \ldots\ldots + २\} + १]D_१$ है।

$Dnm = \frac{Dnb + Dna}{२}$ है।

इनका मान रखने पर,

बादर क्षेत्रफल $= २^{n-१} D१[Dna + \frac{१}{२}(Dna + Dnb) + Dnb]$

$$= २^{n-१}(D_१)^२\left[\frac{३}{२}\left\{२ + २\left(\frac{२(-१+२^{n-२})}{१-२}\right) + २\left(\frac{२(-१+२^{n-१})}{१-२}\right)\right\}\right]$$

$$= ३(२^{n-१})(D_१)^२[१ + २^{n-१} - २ + २(-१ + २^{n-१})],$$

$$= ३^२[२^{n-१}](D_१)^२[२^{n-१} - १]$$

यह सूत्र, २४२वीं गाथा में दिये गये सूत्रानुसार फल देता है।

गा. ५, २४४— यह सूत्र पिछली गाथा के समान है।

$\{Log_२(Apj) + १\}$ वें द्वीप या समुद्र[1] का क्षेत्रफल, (Apj) $(Apj - १)\{९००० करोड़$ योजन$\}$ वर्ग योजन होगा।

पिछली (२४३) वीं गाथा में nवें वलयाकार क्षेत्र का क्षेत्रफल $३^२(D_१)^२[२^{n-१}][२^{n-१} - १]$ बतलाया गया है जो $९(१०००००)^२ [२^{n-१}][२^{n-१} - १]$ के बराबर है।

यदि हम $n = Log_२ Apj + १$ लिखें तो,

$n - १ = Log_२ Apj$ होगा और इसलिये, $२^{n-१} = Apj$ हो जावेगा। इस प्रकार, ग्रंथकार ने यहाँ छेदागणित के उपयोग का निदर्शन किया है। उन्होंने जघन्य परीतासंख्यात को १६ के द्वारा प्ररूपित किया है और १ कम जघन्य परीतासख्यात को (१६ − १) नहीं लिखा है वरन् १५ लिखा है जो उस समय के प्रतीकत्व ज्ञान के संपूर्ण रूप से विकसित न होने का द्योतक है।

इसी प्रकार, $\{Log_२$ (पल्यापम) $+ १\}$ वें द्वीप का क्षेत्रफल

$=$ (पल्योपम) (पल्योपम $- १) \times ९०००००००००००$ वर्ग योजन होता है।

आगे, स्वयंभूरमण समुद्र का क्षेत्रफल निकालने के लिये २४३ या २४४वीं गाथा में दिये गये सूत्र '{बादर क्षेत्रफल $= Dn(३^२)(Dn - D_१)\}$' का उपयोग किया गया है।

इस समुद्र का विष्कम्भ $Dn = \frac{जगश्रेणी}{२८} + ७५०००$ योजन है, इसलिये, बादर क्षेत्रफल $=$

$$\left[\frac{९}{२८} जगश्रेणी + ६७५००० यो.\right]\left(\frac{जगश्रेणी}{२८} + ७५००० यो. - १००००० यो.\right)$$

$$= \frac{९.(जगश्रेणी)^२}{७८४} + जगश्रेणी\left(\frac{९}{२८}\times(-२५००० यो.) + \frac{६७५००० यो.}{२८}\right) - (२५००० यो. \times ६७५००० यो.)$$

$= \frac{९}{७८४}$ (जगश्रेणी $)^२ + [११२५०० वर्ग यो. \times १ राजु]$
$- १६८७५००००००$ वर्ग योजन होता है।

---

१ ग्रंथकार ने लिखा है, कि यह द्वीप क्रमांक होगा अर्थात् यह संख्या ऊनी— अयुग्म होगी।

गा. ५, २४५— प्रतीक रूपेण, इस गाथा का निरूपण यह होगा :—

मान लो, इच्छित द्वीप या समुद्र nवाँ है; उसका विस्तार Dn है तथा आदि सूची का प्रमाण Dna है।

तब, शेष वृद्धि का प्रमाण $= २Dn - \left(\frac{४Dn + Dna}{३}\right)$ होता है।

इसका साधन करने पर $\frac{२Dn - Dna}{३}$ प्राप्त होता है।

यहाँ $Dn = २^{n-१}D_१$ है तथा $Dna = १ + २[२ + २^२ + \ldots\ldots + २^{n-२}]$ है।

अर्थात्, $Dna = [१ + २(२^{n-१} - २)]D_१$ यो. है।

$$\therefore \frac{२ Dn - Dna}{३} = \frac{२^nD_१ + [-१ - २^n + ४]D_१}{३} = D_१$$

$= १००००० $ योजन होता है।

गा. ५, २४६-४७— [1]प्रतीक रूप से:—

$$५०००० \text{ योजन} + \frac{Dna}{२} = \frac{Dnb + [Dn - २०००००]}{४}$$

इस सूत्र में भी Dna, Dnb और Dn का आदेशन (substitution) करने पर दोनों पक्ष समान आ जाते हैं।

गा. ५, २४८— प्रतीक रूप से:—

उक्त वृद्धि का प्रमाण $= \{\frac{३}{२}(Dnb) - Dna\}$

$= १\frac{१}{२}$ लाख योजन है।

गा. ५, २५०— प्रतीक रूप से :—

$$\text{वर्णित वृद्धि का प्रमाण} = \frac{(३Dn - ३०००००) - \left\{\frac{३Dn}{२} - ३०००००\right\}}{२} \text{ है।}$$

गा. ५, २५१— प्रतीक रूपेण, वर्णित वृद्धि का प्रमाण $= \frac{३}{४}Dn - \left\{\frac{Dn - ८०००००}{१२}\right\}$ है।

गा. ५, २५२— चतुर्थ पक्ष की वर्णित वृद्धि को यदि Kn मान लिया जाय तो इच्छित वृद्धि-वाले (n वें) समुद्र से, पहिले के समस्त समुद्रों सम्बन्धी विस्तार का प्रमाण $= \frac{Kn - २०००००}{२}$ होता है।

गा. ५, २५३— वर्णित वृद्धि $= \frac{(३Dn - ३०००००) - \left(\frac{३Dn}{२} - ३०००००\right)}{२}$ है। यह सूत्र २५१ वीं गाथा में कथित सूत्र के सदृश है। अंतर केवल द्वीप और समुद्र शब्दों में है।

---

[1] यहां वर्णित वृद्धियों का व्यावहारिक उपयोग प्रतीत नहीं होता। द्वीप और समुद्रों के विस्तार १, २, ४, ८,......अर्थात् गुणोत्तर श्रेढि में दिये गये हैं। तथा द्वीपों के विस्तार १, ४, १६, ६४...... भी गुणोत्तर श्रेढि में है जिसमें साधारण निष्पत्ति ४ है। उसी प्रकार समुद्रों के विस्तार क्रमशः २, ८, ३२,......आदि दिये गये हैं जहाँ साधारण निष्पत्ति ४ है। इन्हीं के विषय में गुणोत्तर श्रेढि के योग निकालने के सूत्रों की सहायता से, भिन्न २ प्रकार की वृद्धियों का वर्णन ग्रंथकार ने किया है।

गा. ५, २५४— वर्णित वृद्धि का प्रमाण $= \frac{Dn - १००००० }{३} \times २ + \frac{३००००० }{२}$ है।

गा. ५, २५५-५६— अर्द्ध जम्बूद्वीप से लेकर n वें द्वीप तक के द्वीपों के सम्मिलित विस्तार का प्रमाण $= \frac{Dn}{४} + \frac{Dn - २ - १०००००}{३} - \frac{१०००००}{२}$ है।

यहां $Dn = ४Dn - २$ है; क्योंकि यहां केवल द्वीपों के अल्पबहुत्व को निश्चित करने का प्रसंग चल रहा है।

गा. ५, २५७— वर्णित वृद्धि $= \frac{Dn - १०००००}{३} + २०००००$

$$\text{अथवा}, = \frac{Dn + ५०००००}{३} \text{ है।}$$

गा. ५, २५८— अधस्तन द्वीपों के, दोनों दिशाओं सम्बन्धी विस्तार का योगफल

$$\frac{२Dn - ५०००००}{३} \text{ है।}$$

गा. ५, २५९— इष्ट (n वें) समुद्र के, एक दिशा सम्बन्धी विस्तार में वृद्धि का प्रमाण $= \frac{Dn + ४०००००}{३}$ है। यह प्रमाण अतीत समुद्रों के दोनों दिशाओं सम्बन्धी, विस्तार की अपेक्षा से है।

गा. ५, २६०— अतीत समुद्रों के दोनों दिशाओं सम्बन्धी विस्तार का योग

$$= \frac{२Dn - ४०००००}{३} \text{ है।}$$

गा. ५, २६१— [1]वर्णित क्षेत्रफल वृद्धि का प्रमाण $= \frac{३(Dn - १०००००) \times ४Dn}{(१०००००)^२}$ है, जो जम्बूद्वीप के समान, खंडों की संख्या होती है।

गा. ५, २६२— द्वीप समुद्रों के क्षेत्रफल क्रमशः ये हैं :

प्रथम द्वीप : $\sqrt{१०}\left(\frac{१०००००}{२}\right)^२ = \sqrt{१०}(२५००००००००)$ वर्ग योजन

द्वितीय समुद्र : $\sqrt{१०}\left[\left(\frac{५०००००}{२}\right)^२ - \left(\frac{१०००००}{२}\right)^२\right] =$

$\sqrt{१०}[६२५००००००००० - २५००००००००]$

तृतीय द्वीप : $\sqrt{१०}\left[\left(\frac{१३०००००}{२}\right)^२ - \left(\frac{५०००००}{२}\right)^२\right] =$

$\sqrt{१०}[४२२५०००००००००० - ६२५०००००००००]$

चतुर्थ समुद्र : $\sqrt{१०}(१०)^८\left[\left(\frac{२९०}{२}\right)^२ - \left(\frac{१३०}{२}\right)^२\right] =$

$\sqrt{१०}(१०)^८[२१०२५ - ४२२५]$ वर्ग योजन इत्यादि।

---

१ यह पहिले बतलाया जा चुका है कि n वें द्वीप या समुद्र का क्षेत्रफल

$$= \sqrt{१०}\{(Dnb)^२ - (Dna)^२\} \text{ है।}$$

इसी सूत्र के आधार पर विविध क्षेत्रों के क्षेत्रफलों का अल्पबहुत्व प्रदर्शित किया गया है।

यहा लवण समुद्र का क्षेत्रफल $(१०)^{८\frac{१}{२}}$ [६००] वर्ग योजन है जो जम्बूद्वीप के क्षेत्रफल $(१०)^{८\frac{१}{२}}$ [२५] वर्ग योजन से २४ गुणा है। धातकीखंड द्वीप का क्षेत्रफल $(१०)^{८\frac{१}{२}}$ [३६००] वर्ग योजन है जो जम्बूद्वीप से १४४ गुणा है। इसी प्रकार, कालोदधि समुद्र का क्षेत्रफल $[१०]^{८\frac{१}{२}}$ [१६८००] वर्ग योजन है जो जम्बूद्वीप से ६७२ गुणा है तथा इस कालोदधि समुद्र का क्षेत्रफल धातकीखंड द्वीप की खंडशलाकाओं से ४ गुना होकर ९६ अधिक है, अर्थात् $६७२ = (१४४ \times ४) + ९६$। पुनः, पुष्करवर द्वीप का क्षेत्रफल $= (१०)^{८\frac{१}{२}}\left[\left(\frac{६१०}{२}\right)^{२} - \left(\frac{२९०}{२}\right)^{२}\right]$ वर्ग योजन अथवा $(१०)^{८\frac{१}{२}}$ [७२०००] वर्ग योजन है जो जम्बूद्वीप से २८८० गुणा है तथा कालोदधि समुद्र की खंडशलाकाओं से चौगुना होकर ९६×२ अधिक है; अर्थात् $२८८० = (४ \times ६७२) + २(९६)$ है; इत्यादि। साधारणतः यदि किसी अधस्तन द्वीप या समुद्र की खंडशलाकायें Ksn' मान ली जांय जहा n' की गणना धातकीखंड द्वीप से आरम्भ हो तो, उपरिम समुद्र या द्वीप की खंडशलाकाओं की संख्या $(४ \times Ksn') + २^{(n'-१)}(९६)$ होगी।

इसी गणना के आधार पर, ग्रंथकार ने, चौगुणे से अतिरिक्त प्रमाण लाने के लिये गाथासूत्र कहा है, जो प्रतीक रूप से इस प्रक्षेप ९६ का मान निकालने के लिये निम्न लिखित रूप से प्ररूपित किया जा सकता है।

$$\text{प्रक्षेप } ९६ = \frac{Kns'}{\frac{Dn'}{१०००००} - १०००००}$$

इस सूत्र में Ksn' उस द्वीप या समुद्र की खंडशलाकाएं हैं तथा Dn' विस्तार है।

गा. ५, २६३— लवण समुद्र की खड शलाकाओं से धातकीखंड द्वीप की शलाकाएं $(१४४ - २४)$ या १२० अधिक हैं। कालोदधि की खंड शलाकाएं धातकीखंड तथा लवण समुद्र की शलाकाओं से $६७२ - (१४४ + २४)$ या ५०४ अधिक हैं। यह वृद्धि का प्रमाण $(१२०) \times ४ + २४$ लिखा जा सकता है। इसी प्रकार अगले द्वीप की इस वृद्धि का प्रमाण $\{(५०४) \times ४\} + (२ \times २४)$ है। इसलिये, यदि धातकीखंड से n' की गणना प्रारम्भ की जावे तो इष्ट n' वें द्वीप या समुद्र की खड शलाकाओं की वर्णित वृद्धि का प्रमाण प्रतीक रूप से $\left\{\left(\frac{Dn'}{१०००००}\right)^{२} - १\right\} \times ८$ होता है। यहां Dn', n' वें द्वीप या समुद्र का विष्कम्भ है। यह प्रमाण उस समान्तरी गुणोत्तर (Arithmetico Geometric series) श्रेढि का n' वां पद है, जिसके उत्तरोत्तर पद पिछले पदों के चौगुने से क्रमशः $२४ \times २^{n'-१}$ अधिक होते हैं। यद्यपि इसे Arithmetico Geometric series कहा है तथापि यह आधुनिक वर्णित श्रेढियों से भिन्न है। Dn' स्वतः एक गुणोत्तर संकलन का निरूपण करता है जो ८ से प्रारम्भ होकर उत्तरोत्तर १६, ३२, ६४, १२८ आदि हैं। वृद्धि के प्रमाण को n' वां पद, मानकर बननेवाली श्रेढि अध्ययन योग्य है।

इस पद का साधन करने पर $\left\{\frac{(Dn' + १०००००)(Dn' - १०००००)}{(१०००००)^{२}}\right\} \times ८$ प्रमाण प्राप्त होता है।

गा. ५, २६४ n' वें द्वीप या समुद्र से अधस्तन द्वीप समुद्रों की सम्मिलित खंड शलाकाओं के लिये ग्रंथकार ने निम्न लिखित सूत्र दिया है:—

$$\text{उक्त प्रमाण} = \left[\frac{D_n'}{२} - १००००० \right] \times \left[D_n' - १००००० \right] \div १२५००००००००$$

यहां n′ की गणना धातकीखंड द्वीप से आरम्भ करना चाहिये। यह प्रमाण दूसरी तरह से भी प्राप्त किया जा सकता है। चूंकि यह, Dn′a परिधि के अन्तर्गत क्षेत्रफल में, जम्बूद्वीप के क्षेत्रफल की राशि जैसी इतनी राशियां सम्मिलित होना दर्शाता है, इसलिये यह प्रमाण

$$\frac{\sqrt{१०}\left[\frac{Dn'a}{२}\right]^२}{\sqrt{१०}\left[\frac{१०००००}{२}\right]^२}$$ भी होना चाहिये। इसी के आधार पर ग्रंथकार ने उपर्युक्त सूत्र निकाला होगा।

गा. ५, २६५— अतिरिक्त प्रमाण ७४४ $= \frac{Ksn'}{Dn' \div २०००००}$

गा. ५, २६६— इस गाथा में ग्रंथकार ने बादर क्षेत्रफल निकालने के लिये π का मान ३ मान लिया है। इस आधार पर, द्वीप-समुद्रों के क्षेत्रफल निकालने के लिये ग्रंथकार ने सूत्र दिया है।

nवें द्वीप या समुद्र का क्षेत्रफल निकालने के लिये Dn विस्तार है तथा आयाम $(Dn - १०००००)९$ है। इन दोनों का गुणनफल उक्त द्वीप या समुद्र का क्षेत्रफल होगा। यह दूसरी रीति से

$$३\left[\left(\frac{Dnb}{२}\right)^२ - \left(\frac{Dna}{२}\right)^२\right]$$ होगा और इस प्रकार,

$$९ \; D_n(Dn - १०००००) = ३\left[\left(\frac{Dnb}{२}\right)^२ - \left(\frac{Dna}{२}\right)\right]^२$$

मान रखने पर, दोनों पक्ष समान सिद्ध किये जा सकते हैं। यहां π को ३ मानकर बादर क्षेत्रफल का कथन किया है।

गा. ५, २६७— उपर्युक्त आधार पर अधस्तन द्वीप या समुद्र के क्षेत्रफल से उपरिम द्वीप अथवा समुद्र के क्षेत्रफल की सातिरेकता का प्रमाण

$Dn \times ९०००००$ है। यहां n की गणना कालोदक समुद्र के उपरिम द्वीप से आरम्भ की गई है। यह, वास्तव में उत्तरोत्तर आयाम की वृद्धि का प्रमाण है।

गा. ५, २६८— nवें द्वीप या समुद्र से अधस्तन द्वीप-समुद्रों के पिंडफल को लाने के लिये गाथा को प्रतीक रूपेण इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—

अधस्तन द्वीप-समुद्रों का सम्मिलित पिंडफल =

$[Dn - १०००००]\,[९(D_n - १०००००) - ९०००००] \div ३$

यह दूसरी रीति से $३\left(\frac{Dna}{२}\right)^२$ आवेगा।

यदि उपर्युक्त मान रखे जावें तो ये दोनों समान प्राप्त होंगे।

गा. ५, २६९— यहां अतिरेक प्रमाण

$$३\left\{[२D_n - २०००००](३०००००) - ३\left(\frac{१०००००}{२}\right)^२\right\} \text{ है।}$$

गा. ५, २७१— अधस्तन सब समुद्रों का क्षेत्रफल निकालने के लिये गाथा दी गई है। चूंकि द्वीप ऊनी संख्या पर पड़ते हैं इसलिये हम इष्ट उपरिम द्वीप को $(२n - १)$ वां मानते हैं। इस प्रकार, अधस्तन समस्त समुद्रों का क्षेत्रफल :

$$[D_{2n-1} - ३००००००][९(D_{2n-1} - १०००००) - ९०००००] \div १५$$

प्राप्त होता है। इस सूत्र की खोज वास्तव में प्रशंसनीय है।

गा. ५, २७२— वर्णित सातिरेक प्रमाण को प्रतीकरूप से निम्न लिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :—

$$\{[Dna + Dnm + Dnb]४००००० \} - १८००००००००००$$

यहाँ n की गणना वारुणीवर समुद्र से आरम्भ होती है। इस प्रकार, वारुणीवर समुद्र से लेकर अधस्तन समुद्रों के क्षेत्रफल से उपरिम (आगे के) समुद्र का क्षेत्रफल पन्द्रहगुणे होने के सिवाय प्रक्षेप-भूत ४५५४०००००००००० योजनों से चौगुणा होकर १६२०००००००००० योजन अधिक होता है।

गा. ५, २७३— अतिरेक प्रमाण प्रतीक रूपेण

$(Dnm) \times ९००००० + २७०००००००००००$ होता है।

गा. ५, २७४— जब द्वीप का विष्कम्भ दिया गया हो, तब इच्छित द्वीप से (जम्बूद्वीप को छोड़कर) अधस्तन द्वीपों का सकलित क्षेत्रफल निकालने का सूत्र यह है :—

$$(D_{2n-1} - १०००००)[(D_{2n-1} - १०००००)९ - २७०००००] \div १५$$

यहाँ D_{2n-1}, 2n − १वीं सख्या क्रम में आने वाले द्वीप का विस्तार है।

गा. ५, २७५— जब क्षीरवर द्वीप को आदि लिया जाय अथवा n″ की गणना इस द्वीप से प्रारम्भ की जाय तब वर्णित वृद्धि का प्रमाण सूत्र द्वारा यह होगा :—

$$(D_{n''+२} - १०००००)९ \times ४०००००$$

गा. ५, २७६— धातकीखंड द्वीप के पश्चात् वर्णित वृद्धियाँ त्रिस्थानों में होती हैं। जब n′ की गणना धातकीखंड द्वीप से प्रारम्भ होती है; तब वर्णित वृद्धियाँ सूत्रानुसार ये हैं :—

$$\frac{Dn'}{२} \times २;\quad \frac{Dn'}{२} \times ३;\quad \frac{Dn'}{२} \times ४$$

गा. ५, २७७— अधस्तन द्वीप या समुद्र से उपरिम द्वीप या समुद्र के आयाम में वृद्धि का प्रमाण प्राप्त करने के लिये सूत्र दिया गया है। यहाँ n′ की गणना धातकी खंड द्वीप से प्रारम्भ होती है। प्रतीक रूप से आयाम वृद्धि $\frac{Dn'}{२} \times ९००$ है।

गा. ५, २८०-८१— यहाँ से कायमार्गणा स्थान में जीवों की संख्या प्ररूपणा, यतिवृषभकालीन अथवा उनसे पूर्व प्रचलित प्रतीकत्व में दी गई है।

तेजस्कायिक राशि उत्पन्न करने के लिये निम्न लिखित विधि ग्रंथकार ने प्रस्तुत की है। इस रीति को स्पष्ट करने के लिये आंग्ल वर्ण अक्षरों से प्रतीक बनाये गये हैं।

सर्वप्रथम[1] एक घनलोक (अथवा ३४३ घन राजु वरिमा) में जितने प्रदेश बिन्दु हैं, उस सख्या को Gl द्वारा निरूपित करते हैं। जब इस राशि को प्रथम बार वर्गित सम्वर्गित करते हैं तब $[Gl]^{Gl}$ राशि प्राप्त होती है।

---

१ गोम्मटसार जीवकांड गाथा २०३ की टीका में घनलोक से प्रारम्भ न कर केवल लोक से प्रारम्भ किया है। प्रतीत होता है कि घनलोक और लोक का अर्थ एक ही होगा। स्मरण रहे कि लोक का अर्थ असंख्यात प्रमाण प्रदेशों की गणात्मक सख्या है। मुख्य रूप से एक परमाणु द्वारा व्याप्त आकाश के प्रमाण के आधार पर प्रदेश की कल्पना से असख्यात संलग्न प्रदेश कथंचित् अखंड लोकाकाश की संरचना करते हैं अथवा एक लोक में असख्यात प्रदेश समाये हुए हैं। इस प्रमाण को लेकर कायमार्गणा स्थान में तेजस्कायिक जीवों की संख्या की प्राप्ति के लिये विधि का निरूपण किया गया है।

(शेष आगे पृ. ७६ पर देखिये)

यह क्रिया एक बार करने से अन्योन्य गुणकार शलाका का प्रमाण एक होता है। जितने बार यह वर्गन सम्वर्गन की क्रिया की जावेगी उतनी ही अन्योन्य गुणकार शलाकाओं का प्रमाण होगा। ग्रंथकार बतलाते हैं कि—

$\log_2 \log_2 \left[[\,Gl\,]^{Gl} \right] = \frac{\text{पल्योपम}}{\text{असंख्यात}}$ होता है। यहाँ सम्भवतः असंख्यात का प्रमाण Aam होना चाहिए।

यदि $[Gl]^{Gl} = 2^k$ हो अथवा $\log_2 \left[(\,Gl\,)^{Gl} \right] = K$ हो तो K का प्रमाण असंख्यात लोक प्रमाण होता है। यहाँ न तो घन लोक का स्पष्टीकरण है और न लोक का ही।

इस तरह उत्पन्न राशि को भी असंख्यात लोक प्रमाण कहा गया है। इस महाराशि का वर्गन सम्वर्गन करने पर

$\left\{ (Gl)^{Gl} \right\}^{(Gl)^{Gl}}$ प्राप्त होता है। इस समय अन्योन्य गुणकार शलाकाओं का प्रमाण २ हो जाता है तथा राशि Gl का वर्गन सम्वर्गन दो बार हो जाता है, इस प्रकार वर्णित रीति से Gl का वर्गन सम्वर्गन Gl बार करने पर मानलो L राशि उत्पन्न होती है। इस समय[1] अन्योन्य गुणकार शलाकाओं का प्रमाण घन लोक बिन्दुओं की संख्या अथवा Gl के बराबर होता है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह L राशि इस समय भी असंख्यात लोक प्रमाण रहती है।

इसके सिवाय $\log_2 \log_2 [\,L\,]$ भी असंख्यात लोक प्रमाण रहती है। यदि $L = 2^{k'}$ हो तो K' भी असंख्यात लोक प्रमाण रहती है।

अब वर्ग सम्वर्गन की क्रिया L राशि को लेकर प्रारम्भ करेंगे। इस राशि का प्रथम बार वर्गन सम्वर्गन किया तब $(\,L\,)^{L}$ राशि प्राप्त होती है तथा अन्योन्य गुणकार शलाकाओं की संख्या $Gl + 1$ हो जाती है और ग्रंथकार कहते हैं कि $(\,L\,)^{L}$ उसकी वर्गशलाकायें तथा अर्द्धच्छेदशलाकाएँ तीनों ही राशियाँ इस समय भी असंख्यात लोक प्रमाण होती हैं। अब इस L राशि का दूसरी बार वर्गन सम्वर्गन किया तो

आगे चलकर, ग्रंथकार ने तेजस्कायिक राशि का प्रमाण ≡a किया है, जहां a का अर्थ असंख्यात हो सकता है। a का प्रयोग ≡ अथवा लोक के पश्चात् होना इस बात का सूचक है कि ≡ अथवा घनलोक से, तेजस्कायिक जीव राशि को उत्पन्न किया गया है जो द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा से असंख्यात लोक प्रमाण बतलाई गई है। साथ ही असंख्यात लोक प्रमाण के लिये जो प्रतीक ९ दिया गया है वह ≡a से भिन्न है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि असंख्यात शब्द से केवल किसी विशिष्ट संख्या का निरूपण नहीं होता, परन्तु अवधिज्ञानी के ज्ञान में आनेवाली उत्कृष्ट संख्यात के ऊपर की संख्याओं का प्ररूपण होता है। ९, प्रतीक ९ अंक से लिया गया प्रतीत है, जहाँ ३ का घन ९ होता है। ३ विभाओं (उत्तर दक्षिण, पूर्व पश्चिम, तथा ऊर्ध्व अधो भाग) में स्थित लोकाकाश जो जगश्रेणी के घन के तुल्य घनफलवाला है, ऐसे लोकाकाश को ९ लेना उपयुक्त प्रतीत होता है; पर, इस ९ प्रतीक को असंख्यात लोक प्रमाण गणात्मक संख्या का प्ररूपण करने के लिये उपयोग में लाया गया है।

१ ग्रंथकार ने यहाँ अन्योन्य गुणकार शलाकाओं का प्रमाण Gl (घनलोक) न लेकर केवल लोक ही किया है जिससे प्रतीत होता है कि यहाँ लोक और घनलोक में कोई अंतर नहीं है।

$\left[(L)^{L}\right]^{(L)^{L}}$ राशि प्राप्त होगी और तब अन्योन्य शलाकाओं की संख्या $Gl+२$ हो जावेगी तथा उत्पन्न महाराशि, उसकी वर्गशलाकाएँ तथा उसकी अर्द्धच्छेद-शलाकाएँ इस समय भी असंख्यात लोक प्रमाण रहती हैं।

ग्रंथकार कहते हैं कि दो कम उत्कृष्ट संख्यात लोक प्रमाण अन्योन्य गुणकार शलाकाओं के दो अधिक लोक प्रमाण अन्योन्य गुणकार शलाकाओं में प्रविष्ट होने पर चारों ही राशिया असख्यात लोक प्रमाण हो जाती हैं। यह कथन असंख्यात की परिभाषा के अनुसार ठीक है।

क्योंकि दो कम उत्कृष्ट सख्यात लोक प्रमाण बार और वर्गन सम्वर्गन होने पर अन्योन्य गुणकार-शलाकाओ की सख्या $= Gl+२+[Su]Gl-२$

$$=[Su+१]Gl$$

तथा $Su+१=Apj$ अथवा जघन्य परीतासंख्यात हो जावेगी। इस प्रकार चारों राशिया, इतने बार के वर्गन सम्वर्गन से असख्यात लोक प्रमाण हो जावेगी। यहा असख्यात शब्द का उपयुक्त अर्थ लेना वांछनीय है।

इस प्रकार, जब L राशि का वर्गन सम्वर्ग L बार किया जावेगा तो अंत में मान लो M राशि उत्पन्न होगी। यहा स्पष्ट है कि M, M की वर्गशलाकाएं तथा अर्द्धच्छेदशलाकाएं और साथ ही अन्योन्य गुणकार शलाकाएं ये चारों ही राशिया इस समय असख्यात लोक प्रमाण होंगीं।

इसी प्रकार M राशिको M बार वर्गित सम्वर्गित करने पर भी ये चारो राशियां अर्थात् उत्पन्न हुई (मान लो) राशि N, उसकी वर्गशलाकाए और अर्द्धच्छेदशलाकाएं तथा अन्योन्य गुणकारशलाकाएं ये सब ही इस समय भी असंख्यात लोक प्रमाण रहती हैं।

अब चौथी बार N राशि को स्थापित कर उसे $[N-M-L-Gl]$ बार वर्गित सम्वर्गित करने पर तेजस्कायिक राशि उत्पन्न होती है जो असख्यात घन लोक[1] प्रमाण होती है। ग्रंथकार ने इस तरह उत्पन्न हुई महाराशि को $\equiv a$ प्रतीक द्वारा निरूपित किया है। इस प्रकार तेजस्कायिक राशि की अन्योन्य गुणकार शलाकाएं N हैं[2], क्योंकि, $N-(M+L+Gl)+(M+L+Gl)=N$ होता है।

ग्रंथकार ने "अतिक्रात अन्योन्य गुणकार शलाकाओं" शब्द $M+L+Gl$ के लिये व्यक्त किये हैं। यहां ग्रंथकार ने असख्यात लोक प्रमाण के लिये ९ प्रतीक दिया है।

इस प्रकार, पृथ्वीकायिक राशि का प्रमाण $\left(\text{तेजस्कायिक राशि} + \dfrac{\text{ते. का. रा.}}{\text{अस० लोक}}\right)$ होता है।

अथवा, दक्षिण पक्ष का प्रमाण $\left(\equiv a + \dfrac{\equiv a}{९}\right)$ होता है।

---

१ घनलोक तथा लोक का अंतर सशयात्मक है, तथापि घनलोक लिखने का आशय हम पहिले बतला चुके हैं।

२ इसके विषय में वीरसेनाचार्य ने कहा है कि कितने ही आचार्य चौथी बार स्थापित (N) शलाका राशि के आधे प्रमाण के 'व्यतीत' होने पर तेजस्कायिक जीवराशि का उत्पन्न होना मानते हैं तथा कितने ही आचार्य इस कथन को नहीं मानते हैं, क्योंकि, साढ़े तीन बार राशि का समुदाय वर्गधारा में उत्पन्न नहीं है। यहां वीरसेनाचार्य ने वर्गशालाकाओं तथा अर्द्धच्छेदशलाकाओं के प्रमाण के आधार पर अनेकान्त से दोनों मतो का एक ही आशय सिद्ध किया है और विरोध विहीन स्पष्टीकरण किया है जो षट्खंडागम में देखने योग्य है। षट्खंडागम, पुस्तक ३, पृष्ठ ३३७.

[1]यह प्रमाण $\equiv a\ \frac{१०}{९}$ अथवा '$\left(\frac{१०}{९}\right.$ असंख्यात घन लोक$\left.\right)$' के तुल्य निरूपित किया गया है।

इसी प्रकार, जलकायिक राशि का प्रमाण प्रतीक रूपेण,[2]

$$\left(\equiv a\ \frac{१०}{९}\right)+\left(\frac{\equiv a}{९}\cdot\frac{१०}{९}\right) \text{ होता है।}$$

अथवा, यह $\equiv a\cdot\frac{१०}{९}\left[१+\frac{१}{९}\right]$ या $\equiv a\ \frac{१०}{९}\cdot\frac{१०}{९}$ है।

इसी प्रकार वायुकायिक राशि का प्रमाण;

$$\left(\equiv a\ \frac{१०}{९}\cdot\frac{१०}{९}\right)+\left(\frac{\equiv a}{९}\cdot\frac{१०}{९}\cdot\frac{१०}{९}\right) \text{ होता है।}$$

अथवा, यह $\equiv a\ \frac{१०}{९}\ \frac{१०}{९}\left[१+\frac{१}{९}\right]$ या $\equiv a\ \frac{१०}{९}\cdot\frac{१०}{९}\cdot\frac{१०}{९}$ है। यहां,

---

१ यहां $१+\frac{१}{\text{असंख्यात लोक}}=\frac{\text{असंख्यात लोक}+१}{\text{असंख्यात लोक}}$ होना चाहिये पर ग्रंथकार ने (असंख्यात लोक + १) को (९ + १) न लिखकर १० लिख दिया है जो प्रतीक प्रतीत नहीं होता। आगे १० का वारंवार उपयोग हुआ है, इसलिये स्पष्ट हो जाता है कि वह (असंख्यात लोक + १) का प्ररूपण करने के लिये प्रतीकरूप में ले लिया गया है।

२ इस अध्याय में ग्रंथकार ने प्रतीकत्व के आधार पर परम्परागत ज्ञान का निर्देशन सरल विधि से स्पष्ट करने का अद्वितीय प्रयास किया है। गणितज्ञ इतिहासकार श्री बेल के ये शब्द यहां चरितार्थ होते प्रतीत होते हैं—"Extensive tracts of mathematics contain almost no symbolism, while equally extensive tracts of symbolism contain almost no mathematics." यदि इस प्रतीकत्व को सुधार करने का प्रयास सतत रहता तो जैन गणित की उपेक्षा इस तरह न होती और विश्व की गणित के आधुनिक इतिहास में इसका भी नाम होता। वह केवल इतिहास की ही वस्तु न होकर अध्ययन का विषय होकर उत्तरोत्तर नवीन खोजों से भरी होती। गणित में प्रतीकत्व के विकास के इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि जैनाचार्यों ने कठिनता से अवधारणा में आनेवाली संख्याओं के निरूपण के लिये प्रतीकों का स्वतंत्र रूप से विकास किया। अन्य भारतीय गणितज्ञ भी उनके इस विकास से या तो अनभिज्ञ रहे या उन्होंने इसकी कोई कारणों वश उपेक्षा की। धन, ऋण, बराबर, भिन्न, भाग, गुणा आदि के चिह्नों का उपयोग इस ग्रंथ में नहीं मिलता है। परन्तु मस्तिष्क के परे की संख्याओं या वस्तुओं के लिए भिन्न-भिन्न प्रतीक देकर और उन्हीं पर आधारित नई संख्याओं को निरूपित करने का प्रयास स्पष्ट है। इस समय तक धन के लिये धन, ऋण के लिये ऋण लिखा जाता था। बराबर और गुणा के लिये कोई चिह्न नहीं मिलता है। भिन्न $\frac{१}{२}$ को $\frac{१}{२}$ लिखा करते थे। भाग निरूपण के लिये भी कोई विशिष्ट चिह्न नहीं मिलता। वर्गमूल के लिये भी केवल 'वग्गमूल' लिखा जाता था। अर्द्धच्छेद के $\log_2$ सरीखा सरल कोई भी प्रतीक नहीं मिलता। वर्ग या कृति, इत्यादि घातांकों को शब्दों से निर्देशित किया जाता था। यद्यपि, अभी तक अलौकिक गणित सम्बन्धी गणित ग्रंथ प्राप्त नहीं हो सका है जो क्रियात्मक प्रतीकत्व (Operational symbolism) के उपयोग का समर्थन कर सके, तथापि वीरसेनाचार्यकाल में अर्द्धच्छेद तथा वर्गशलाकाओं के आधार पर विभिन्न द्रव्य प्रमाणों के अल्पबहुत्व का निदर्शन, बिना क्रियात्मक प्रतीकत्व के प्रायः असम्भव है।

१० पुन: (असंख्यात लोक + १) की निरूपणा करता है[1]।

इसके पश्चात्, तेजस्कायिक बादर राशि का प्रमाण $\frac{\equiv a}{9}$ माना गया है तथा सूक्ष्म राशि का प्रमाण

$$(\equiv a)\text{ रिण }\left(\frac{\equiv a}{9}\right)$$

अर्थात् $(\equiv a)\left[1 \text{ रिण } \frac{1}{9}\right]$ अथवा

$\equiv a\left[\frac{\text{असख्यात लोक रिण १}}{\text{असख्यात लोक}}\right]$ माना गया है, जिसे ग्रंथकार ने प्रतीकरूपेण, $\equiv a\frac{8}{9}$ लिखा है। यहां (असंख्यात लोक रिण १) के लिये प्रतीक ८ दिया गया है।

इसी प्रकार, वायुकायिक बादरराशि का प्रमाण $\frac{\equiv a}{9}\cdot\frac{10}{9}\cdot\frac{10}{9}\cdot\frac{10}{9}\cdot$ है; तथा सूक्ष्म राशि का प्रमाण $\equiv a\,\frac{10}{9}\cdot\frac{10}{9}\;\frac{10}{9}\cdot\frac{8}{1}$ अथवा $\equiv a\,\frac{10}{9}\cdot\frac{10}{9}\cdot\frac{10}{9}\cdot\frac{8}{9}$ है। यहां १०, (असंख्यात लोक + १) तथा८, (असख्यात लोक − १) का निरूपण करते हैं।

अब, जलकायिक बादर पर्याप्तक राशि का प्रमाण ग्रंथकार ने प्रतीक द्वारा $\frac{= प}{4a}$ बतलाया है। यहा = जगप्रतर है, प पल्योपम है, ४ प्रतरांगुल है और a असंख्यात का प्रतीक है। जब इस राशि में आवलि के असंख्यातवें भाग का भाग दिया जाता है, तो पृथ्वीकायिक बादर पर्याप्त जीवों की संख्या का प्रमाण मिलता है। जहां आवलि का असख्यातवाँ भाग प्रतीक रूप से ग्रंथकार ने $\frac{1}{9}$ लिया है जिसका अर्थ $\frac{1}{\text{असंख्यात लोक}}$ होता है (यह प्रमाण $\frac{1}{9}$ के स्थान में $\frac{\text{आवलि}}{\text{असंख्यात}}$ अथवा $\frac{\text{आवलि}}{a}$ लिखना चाहिये था, पर वास्तव में यहाँ असंख्यात प्रमाण का अर्थ असख्यात लोक ही है) जिसके लिये प्रतीक ९ है। इस प्रकार, पृथ्वीकायिक पर्याप्त बादर जीवराशि का प्रमाण ग्रंथकार ने प्रतीकरूपेण $\frac{= प\cdot 9\cdot}{4\,a}$ दिया है। स्पष्ट है कि प्रतीक रूपेण निरूपण, अत्यन्त सरल, संक्षिप्त, युक्त एवं सुग्राह्य है।

इसके पश्चात्, तेजस्कायिक बादर पर्याप्त राशि का प्रमाण प्रतीक रूप से $\frac{8}{a}$ दिया गया है जहाँ ८ को आवलि का प्रतीक माना है।

यह बतलाना आवश्यक है कि जब आवलि का प्रतीक ८ माना गया है तो आवलि के असंख्यातवें भाग को $\frac{8}{9}$ न लेकर $\frac{1}{9}$ क्यों लिया गया है? इसके दो कारण हो सकते हैं। एक यह, कि असंख्यात लोक प्रमाण राशि (९) की तुलना में आवलि (जघन्य युक्त असख्यात समयों की गणात्मक संख्या की

---

१ यदि सख्या a है और इस संख्या को ९ द्वारा भाजित करने से जो लब्ध आवे वह इस a संख्या में जोड़ना हो तो क्रिया इस प्रकार है :— $a+\frac{a}{9}=\frac{10\,a}{9}=\frac{a\,10}{9}$। इसका ९वां भाग और जोड़ने पर $a\,\frac{10}{9}\times\frac{10}{9}$ प्राप्त होता है।

प्रतीक रूप राशि) और एक का अन्तर नगण्य है। दूसरा यह, कि ९ के साथ ८ का उपयोग करने पर कहीं उसका अर्थ (असंख्यात लोक – १) प्रमाण राशि न मान लिया जाय। इस प्रकार $\frac{= प \cdot ९}{४ \cdot a \ (आवलि)}$ लिखे जानेवाले प्रमाण में आवलि के स्थान पर ८ का उपयोग नहीं हुआ प्रतीत होता है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड में गाथा २०९ में आवलि न लेकर घनावलि लिया गया है। घनावलि शब्द ठीक मालूम पड़ता है। आवलि यदि २ मानी जावे तब घनावलि की संदृष्टि ८ हो सकती है। परन्तु, यह इसलिये सम्भव नहीं है कि २ को सूच्यंगुल का प्रतीक माना गया है।

स्मरण रहे कि उपर्युक्त प्रतीक रूप राशियों (Sets) का उल्लेख, उन राशियों में मुख्य रूप से आकाश में प्रदेशों की उपधारणा के आधार पर समाये जानेवाले प्रदेशों की गणात्मक संख्या बतलाने के लिये किया गया है।

आगे वायुकायिक बादर पर्याप्त राशि को ग्रंथकार ने प्रतीक रूप से $\frac{\equiv}{संख्यात}$ लिखा गया है। यहाँ $\equiv$ घन लोक की संदृष्टि प्रतीत होती है पर ग्रंथकार द्वारा वहाँ केवल लोक शब्द उपयोग में लाया गया है। संख्यात राशि के प्रतीक के लिये तिलोयपण्णत्ति भाग २, पृ. ६०२ देखिये। सुविधा के लिये हम आगे चलकर इसे Q द्वारा प्ररूपित करेंगे।

तदुपरान्त, पृथ्वीकायिक जीवों की 'सूक्ष्म पर्याप्त जीव राशि' तथा 'सूक्ष्म अपर्याप्त जीवराशि' के प्रमाण, क्रमशः, प्रतीक रूपेण $\equiv a \cdot \frac{१०}{९} \cdot \frac{८}{९} \cdot \frac{४}{५}$ तथा $\frac{\equiv a}{९} \cdot \frac{१०}{९} \cdot \frac{८}{५}$ निरूपित किये गये हैं। प्रथम राशि को प्राप्त करने के लिये $\left(\frac{\equiv a}{९} \cdot \frac{१०}{९} \cdot \frac{८}{१} \right)$ प्रमाण को अपने योग्यसंख्यात रूपों से खंडित करके उसका बहुभाग ग्रहण करना पड़ता है। दूसरी राशि उक्त प्रमाण का एक भाग रूप ग्रहण करने पर प्राप्त होती है। इसका कारण यह है कि अपर्याप्तक के काल से पर्याप्तक का काल संख्यातगुणा होता है। स्पष्ट है, कि पृथ्वीकायिक सूक्ष्मराशि का $\frac{४}{५}$ वां भाग पर्याप्त जीव राशि ली गई है तथा $\frac{१}{५}$ भाग अपर्याप्त जीव राशि ली गई है।

त्रसकायिक जीव राशि का प्रमाण प्रतीक रूपेण $\frac{=}{४} \cdot \frac{a}{२}$ लिया गया है। गोम्मटसार जीवकांड गाथा २११ के अनुसार ४ प्रतरांगुल है, = जगप्रतर है, २ आवलि है, तथा a असंख्यात है। इस प्रकार, आवलि के असंख्यातवें भाग $\left(\frac{२}{a} \right)$ से विभक्त प्रतरांगुल (४) का भाग जगप्रतर (=) में देने से $\frac{=}{४ \div \frac{२}{a}}$ प्रमाण राशि त्रस जीव राशि प्राप्त होती है।

इसके पश्चात् ग्रंथकार ने प्रतीक रूप से, सामान्य वनस्पतिकायिक जीव राशि का प्रमाण यह दिया है :—

$$सर्व \ जीवराशि \ रिण \left[\frac{=}{४} \cdot \frac{a}{२} \right] रिण \left[\equiv a \left(\frac{\backsim}{४} - \right) \right]$$

अंतिम पद $\equiv a \left(\frac{\backsim}{४} - \right)$ समस्त तेजस्कायिक, पृथ्वीकायिक, वायुकायिक तथा जलकायिक राशियों के योग का प्रतीक है। ४ का अर्थ हम छः में से इन चारों कायों के जीव ले सकते हैं। शेष $\backsim$ तथा – का निश्चित अर्थ कहने में अभी समर्थ नहीं हैं।

उपर्युक्त जीव राशि में से असंख्यात लोक प्रमाण राशि घटाने पर साधारण वनस्पतिकायिक जीव राशि उत्पन्न होती है। यथा :

(सर्व जीवराशि रिण = रिण ≡a । ४) ऋण (असंख्यात लोक प्रमाण)
४
२
a

असंख्यात लोक के लिये ९ सदृष्टि हो सकती है, पर यहा असंख्यात लोक प्रमाण से प्रत्येक वनस्पति जीव राशिका आशय है। जिसका प्रमाण ग्रंथकार ने, आगे, ≡a ≡a प्ररूपित किया है। शेष बचनेवाली संख्या के लिए ग्रंथकार ने १३≡ प्रतीक दिया है। यह सदृष्टि किस आधार पर ली गई है, स्पष्ट नहीं है, तथापि ९ और ४ अंकों के पास होने के कारण ली गई प्रतीत होती है। सम्भवतः १३ का स्पष्टीकरण षट्खंडागम पुस्तक ३ में पृष्ठ ३७२ आदि में वर्णित विवरण से हो सके।

इसके पश्चात्, साधारण बादर वनस्पतिकायिक जीवराशि

$\frac{१३\equiv}{९}$ द्वारा प्ररूपित की गई है जहाँ ९ असंख्यात लोक का प्रतीक है। इस राशि को १३≡ से घटाने पर १३≡ $\frac{८}{९}$ प्रमाण राशि साधारण सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीवराशि बतलाई गई है। यहाँ ८ का अर्थ, 'असंख्यात लोक रिण एक' है।

पुनः, साधारण बादर पर्याप्त वनस्पतिकायिक जीवराशि का प्रमाण प्रतीक रूपेण $\frac{१३\equiv}{९}.\frac{१}{७}$ लिया है जहाँ ७ अपने योग्य असंख्यात लोक प्रमाण राशि को मान लिया गया है। इसे $\frac{१३\equiv}{९}$ मे से घटाने पर प्रतीक रूपेण साधारण बादर अपर्याप्त जीव राशि $\frac{१३\equiv}{९}.\frac{६}{७}$ प्ररूपित की गई है। इस प्रकार अपने योग्य असंख्यात लोक प्रमाण राशि में से एक घटाने पर जो राशि प्राप्त होती है, उसे ६ द्वारा निरूपित किया गया है।

पुनः, १३≡ $\frac{८}{९}$ का $\frac{९}{१०}$ वा भाग साधारण सूक्ष्म वनस्पतिकायिक पर्याप्त जीवराशि तथा $\frac{१}{१०}$ वा भाग अपर्याप्त जीवराशि का प्रमाण बतलाया गया है।

असंख्यात लोक प्रमाण राशि जो ≡a ≡a ली गई थी, वह प्रत्येकशरीर वनस्पति जीवों का प्रमाण भी है।

आगे, ग्रंथकार ने अप्रतिष्ठित प्रत्येकशरीर वनस्पतिकायिक जीवराशि को असंख्यात लोक परिमाण बतलाकर ≡a प्रतीक रूपेण प्ररूपित किया है। इसमें जब असंख्यात लोकों का गुणा करते हैं तब प्रतिष्ठित जीवराशि का प्रमाण ≡a ≡a प्राप्त होता है।

बादर निगोदप्रतिष्ठित प्रत्येकशरीर वनस्पतिकायिक पर्याप्त जीवराशि का प्रमाण : पृ. का. बा. प. जीवराशि ÷ $\frac{\text{आवलि}}{\text{असख्यात}}$ है। यहाँ ग्रंथकार ने फिर से $\frac{\text{आवलि}}{\text{असख्यात}}$ को $\frac{२}{a}$ नहीं लिया वरन् $\frac{१}{९}$ अथवा $\frac{१}{\text{असख्यात लोक}}$ प्रमाण लिया है। इसलिये प्रमाण $\frac{=प ९}{४a}.\frac{९}{१}$ आता है। आगे, बादर निगोदप्रतिष्ठित प्रत्येकशरीर वनस्पतिकायिक अपर्याप्त जीवराशि तक का वर्णन तथा प्रतीक स्पष्ट हैं।

इसके बाद, ग्रंथकार ने प्रतीकरूपेण दोइंद्रिय, तीनइंद्रिय, चतुरिंद्रिय तथा पंचेन्द्रिय जीवों के प्रमाण मूल गाथा में प्रदर्शित किये हैं जो क्रमशः

$$\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{१}{४}\cdot\frac{८४२४}{६५६१},\ \frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{१}{४}\cdot\frac{६१२०}{६५६१};$$

$$\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{१}{४}\cdot\frac{५८६४}{६५६१}\ \text{तथा}\ \frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{१}{४}\cdot\frac{६१२०}{६५६१}\ \text{हैं।}$$

जहां = जगप्रतर है, ४ प्रतरांगुल है, २ आवलि है, तथा a असंख्यात का प्रतीक है। इन राशियों की प्राप्ति क्रमशः निम्न रीति से स्पष्ट हो जावेगी।

$\frac{=}{४}\,\frac{२}{a},\frac{१}{९}$ अलग स्थापित करते हैं तथा,

$\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{८}{९}\cdot\frac{१}{४}$, चार जगह अलग २ स्थापित करते हैं।

दो इंद्रिय जीवों का प्रमाण निकालने के लिये $\frac{=}{४}.\frac{२}{a}.\frac{१}{९}$ में $\frac{१}{९}$ का गुणा करने से प्राप्त राशि को $\frac{=}{४}\,\frac{२}{a}.\frac{१}{९}$ में से घटा देने पर अवशिष्ट $\frac{=}{४}.\frac{२}{a}.\frac{८}{८१}$ राशि बचती है जिसे अलग स्थापित किये प्रथम पुंज में मिलाने पर

$$\frac{=}{४}.\frac{२}{a}.\frac{८}{८१}+\frac{=}{४}\,\frac{२}{a}.\frac{८}{९}.\frac{१}{४}$$

$$\text{अथवा}\ \frac{=}{४}\,\frac{२}{a}.\frac{८}{८१}.\frac{८१}{८१}+\frac{=}{४}\,\frac{२}{a}.\frac{८}{९}.\frac{१}{४}.\frac{८१}{८१}.\frac{९}{९}$$

$$\text{अथवा}\ \frac{=}{४}\,\frac{२}{a}.\frac{१}{४}\,\frac{(८\times४\times८१)+(८\times८१\times९)}{८१\times८१}$$

$$\text{अथवा}\ \frac{=}{४}\,\frac{२}{a}.\frac{१}{४}.\frac{८४२४}{६५६१}\ \text{प्रमाण राशि प्राप्त होती है।}$$

तीन इंद्रिय जीवों का प्रमाण प्राप्त करने की निम्न लिखित रीति है।

$\frac{=}{४}.\frac{२}{a}.\frac{१}{९}\times\frac{१}{९}$ को $\frac{=}{४}.\frac{२}{a}.\frac{१}{९}$ में से घटाते हैं जिससे

$\frac{=}{४}.\frac{२}{a}.\frac{१}{९}.$ रिण $\frac{=}{४}.\frac{२}{a}.\frac{१}{९}.\frac{१}{९}$ प्रमाण राशि

अथवा $\frac{=}{४}.\frac{२}{a}.\frac{८}{८१}$ प्रमाण राशि प्राप्त होती है। इस अवशिष्ट राशि के समान खंड करने पर $\frac{=}{४}.\frac{२}{a}.\frac{८}{८१}\times\frac{१}{९}$ प्रमाण प्राप्त होता है।

इसे द्वितीय पुंज में मिलाने पर

$$\frac{=}{४}.\frac{२}{a}.\frac{८}{८१}\times\frac{९}{८१}+\frac{=}{४}.\frac{२}{a}.\frac{१}{४}.\frac{८}{९}\times\frac{(९)^3}{(९)^3}$$

$$\text{अथवा}\ \frac{=}{४}.\frac{२}{a}.\frac{१}{४}.\frac{६१२०}{६५६१}\ \text{प्रमाण प्राप्त होता है।}$$

उपर्युक्त क्रियाएं प्रतीक ९ को अंक मानकर की गई हैं। ये कहां तक ठीक हैं कहा नहीं जा सकता। ९ को अंक सम्भवतः इसलिये मान लिया गया हो कि ९ का विरलन किया गया है।

इसी प्रकार, चार इंद्रिय जीवों का प्रमाण—

$$\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{८}{द१}\cdot\frac{८१}{द१}+\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{१}{४}\cdot\frac{८}{९}\cdot\frac{(९)^3}{(९)^3}$$

अथवा $\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{१}{४}\cdot\frac{५८६४}{६५६१}$ बतलाया गया है।

इसी तरह पाचइन्द्रिय जीवों का प्रमाण—

$$\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{१}{द१}\cdot\frac{१}{द१}+\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{१}{४}\cdot\frac{८}{९}\cdot\frac{(९)^3}{(९)^3}$$

अथवा $\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{१}{४}\cdot\frac{५८३६}{६५६१}$ बतलाया गया है।

पर्याप्त जीवों की संख्या निकालने के लिये उपर्युक्त रीति में $\frac{२}{a}$ के बदले केवल संख्यात ५ लेते हैं, जिससे उल्लेखित प्रमाण प्राप्त हो जाता है।

दोइंद्रिय अपर्याप्त जीवों की राशि को ग्रंथकार ने वास्तव में निम्न प्रकार निरूपित किया है :—

$$\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{१}{४}\cdot\frac{८४२४}{६५६१}\ \text{रिण}\ \frac{=}{४}\cdot(५)\cdot\frac{१}{४}\cdot\frac{६१२०}{६५६१}$$

अंतिम दो स्थापनाओं में कुछ ऐसे प्रतीक हैं जिनका अर्थ इस समय प्राप्त सामग्री से ग्राह्य नहीं है। ये क्रमशः मू., ‾, Ω, हैं। ‾ तो ग्रीक अक्षर सिगमा तथा Ω ग्रीक अक्षर ओमेगा तथा ९ रो के समान और a एल्फा के समान प्रतीत होता है। यद्यपि ९, ९ अंक से लिया गया प्रतीत होता है और a असंख्यात का प्ररूपण करता है, तथापि ‾ और Ω के विषय में खोज आवश्यक है, क्योंकि ये वर्णाक्षर विभिन्न युगों में यूनान में पूर्वीय देशों से प्रविष्ट हुए[1]।

गा. ५, ३१४-१५— अल्प बहुत्व (Comparability) :—

यहां $\frac{\text{पंचेन्द्रिय तिर्यंच सज्ञी अपर्याप्त राशि}}{\text{बादर तेजस्कायिक पर्याप्त जीवराशि}}$ निष्पत्ति का प्ररूपण $\frac{(=)/(४\times६५५३६\times५\times५)}{\frac{८}{a}}$ है।

४ प्रतरांगुल है, ८ घनावलि है, तथा a असंख्यात है।

यह प्रमाण $\frac{(=)\,a}{८\times४\times६५५३६\times५\times५}$ होता है। इस राशि को ग्रंथकार ने असंख्यात विभाग में रखा है। यह स्पष्ट भी है, क्योंकि, जगप्रतर का प्रमाण असंख्यात और a का प्रमाण भी असंख्यात है। संज्ञी पर्याप्त, असज्ञी पर्याप्त से संख्यात अथवा ४ गुने हैं।

तीन इंद्रिय असंज्ञी अपर्याप्त राशि, तीन इंद्रिय पर्याप्त राशि से असंख्यातगुणी है। यह प्रमाण आवलि के प्रमाण पर निर्भर है।

इसी प्रकार, दोइंद्रिय अपर्याप्त जीवराशि से असंख्यातगुणी अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीवराशि है जो पल्य के प्रमाण पर निर्भर है।

जलकायिक बादर पर्याप्त जीव $\frac{=}{४}\frac{प}{a}$ हैं तथा बादर वायुकायिक पर्याप्त जीव $\overline{\overline{\overline{Q}}}$ हैं।

---

१ Heath, A History of Greek Mathematics, vol. 1, pp 31-33 Edn- 1921.

इसलिये, $\dfrac{\dfrac{\equiv / Q}{= \text{प}}}{\text{४ a}}$ अथवा $\dfrac{\equiv \text{४} \cdot a}{= Q \cdot \text{प} \cdot}$

निष्पत्ति (ratio) को ग्रंथकार ने असंख्यात प्रमाण कहा है। यहां प्रतीक टाइप के अभाव में हम संख्यात के लिये Q द्वारा प्ररूपित कर रहे हैं। सदृष्टि के लिये ति. प., भाग २ पृ. ६१६-६१७ देखिये।

इसके पश्चात्, ग्रंथकार ने तेजस्कायिक सूक्ष्म अपर्याप्त जीवराशि और वायुकायिक बादर अपर्याप्त जीवराशि को असंख्यात कहा है।

निरूपण यह है :—

$$\left\{ \frac{\equiv a \cdot \text{८} \cdot}{\text{९} \cdot \text{५}} \right\} \Big/ \left\{ \frac{\equiv a \; \text{१०} \cdot \text{१०} \cdot \text{१०} \cdot}{\text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९}} \; \text{रिण} \; \frac{\equiv \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९}}{Q \; \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९}} \right\}$$

अथवा

$$\frac{\equiv a \cdot \text{८} \cdot \; \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९} \cdot Q}{\text{९} \cdot \text{५} \cdot [\equiv a \cdot \text{१०} \cdot \text{१०} \cdot \text{१०} \cdot \; \text{रिण} \equiv \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९}]}$$

स्पष्ट है, कि यह राशि असंख्यात है। यहां बिंदु का उपयोग गुणन के लिये हुआ है।

इसके पश्चात्, ग्रंथकार ने साधारण बादर पर्याप्त और वायुकायिक सूक्ष्म पर्याप्त की निष्पत्ति को भी असंख्यात विभाग में रखा है। यथा :— $\text{१३} \frac{\equiv}{\text{९}} \cdot \frac{\text{१}}{\text{७}} \Big/ \equiv a \; \frac{\text{१०} \cdot \text{१०} \cdot \text{१०} \cdot \text{८} \cdot \text{४}}{\text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{५}}$

अथवा $\dfrac{(\text{१३}) \; \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{५}}{\text{९} \cdot \text{७} \; a \cdot \text{१०} \cdot \text{१०} \cdot \text{१०} \cdot \text{८} \cdot \text{४}}$

इससे ज्ञात होता है कि $\frac{\text{१३}}{a}$ की निष्पत्ति अवश्य ही असंख्यात होना चाहिये। अर्थात् १३ प्रतीक द्वारा प्ररूपित राशि $(a)^{\text{२}}$ के समान अथवा उससे बड़ी होना चाहिये।

साधारण बादर अपर्याप्त और साधारण बादर पर्याप्त की निष्पत्ति असंख्यात प्रमाण कही गई है। यथा :—

$\dfrac{\text{१३} \equiv \cdot \text{६}}{\text{६} \qquad \text{७}} \Big/ \dfrac{\text{१३} \equiv \text{१}}{\text{९} \qquad \text{७}}$, जो वास्तव में केवल संख्यातगुणी प्रतीत होती है। पर यह निष्पत्ति ६ के प्रमाण पर निर्भर है। यदि ६ को घनांगुल मान लिया जाय, तो उसमें प्रदेशों की संख्या असंख्यात मानकर यह निष्पत्ति असंख्यात मानी जा सकती है।

आगे ग्रंथकार ने सूक्ष्म अपर्याप्त और साधारण बादर अपर्याप्त की निष्पत्ति अनन्त मानी है। यथा:—

$$\frac{\text{१३} \equiv \text{८}}{\text{९} \times \text{५}} \Big/ \frac{\text{१३} \cdot \equiv \cdot \text{६}}{\text{९} \cdot \text{७} \cdot} \qquad \text{अथवा} \qquad \frac{\text{८} \times \text{७}}{\text{५} \times \text{६}}$$

ऐसा प्रतीत होता है कि इस निष्पत्ति को उपचार से अनन्त कहा गया है। इस समय कहा नहीं जा सकता कि ८, ६, ७ और ५ को यहां किन अर्थों में ग्रहण किया गया है।

गा. ४, ३१८— अवगाहनाओं के विकल्प का कथन, धवला टीका के गणित का अनुसंधान करते समय, सुगमता से सम्भव हो सकेगा।

गा. ५, ३१९-२०— यहां, सम्भवतः ग्रंथकार ने निम्न लिखित सांद्र के घनफल का प्ररूपण किया है। यह एक ऐसा उदग्र स्तम्भ है, जिसका आधार, समद्विबाहु त्रिभुज सहित अर्धवृत्त है। आधार शंख आकृति कहा जा सकता है।
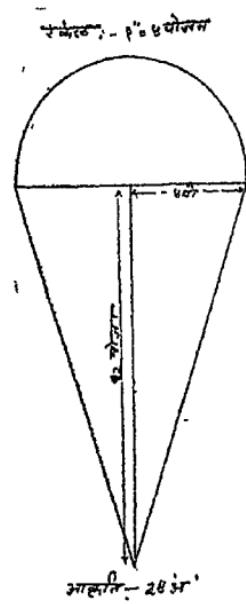
आकृति – ३४ अ

इस शंखाकार आकृति (३४ अ) का क्षेत्रफल $\frac{\pi (\text{त्र})^2}{\text{२}} +$ ४८ = ७३·२८ वर्ग योजन प्राप्त होता है। यदि स्तम्भ का उत्सेध ५ योजन हो, तो घनफल, आधार का क्षेत्रफल तथा उत्सेध का गुणनफल, होता है।

इसलिये, यहा घनफल

७३·२८ × ५

अथवा बादररूपेण ३६५ घनयोजन प्राप्त होगा। हो सकता है कि ग्रंथकार द्वारा निर्देशित आकृति की नियोजना दूसरी रही हो। ऐसे क्षेत्र के क्षेत्रफल का सूत्र ग्रंथकार ने दिया है:—

$$\left[(\text{विस्तार})^2 - \left(\frac{\text{मुख}}{\text{२}}\right) + \left(\frac{\text{मुख}}{\text{२}}\right)^2 \right] \times \frac{\text{३}}{\text{४}}$$

इसे शंखक्षेत्र का गणित कहा गया है।

यहां, विस्तार १२ योजन एवं मुख ४ योजन है।
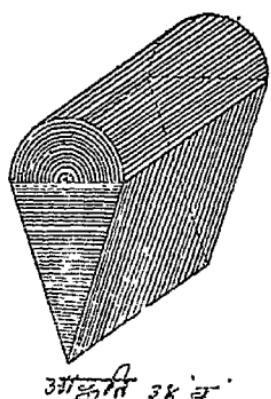
आकृति ३४ ब

यह आकृति सम्भवतः चित्र ३४ ब में बतलाये हुए सांद्र के सदृश हो सकती है।

आकृति :– ३४ स

आगे, पद्म के आकार के सांद्र का घनफल निकालने के लिये सूत्र दिया गया है। यह सांद्र बेलनाकार होता है। इसका घनफल निकालने के लिये आधुनिक सूत्र $\pi . r^2 . h$. का उपयोग किया गया है, जहा π का मान ३ लिया गया है, २r अथवा व्यास १ योजन है तथा उत्सेध १०००$\frac{\text{३}}{\text{४}}$ योजन है। आकृति—३४ स देखिये।

महामत्स्य की अवगाहना, आयतज (cuboid) के आकार का क्षेत्र है, जहा घनफल (लम्बाई × चौड़ाई × ऊँचाई) होता है।

स्केल :- 8cm = १रा.

आकृति ३४ द

भ्रमरक्षेत्र का घनफल निकालने के लिये बीच से विदीर्ण किये गये अर्द्ध बेलन के घनफल को निकालने के लिये उपयोग में लाया गया सूत्र दिया गया है।

सूत्र में π का मान ३ लिया गया है। आकृति—३४ द देखिये।

गा. ७, ५-६— ज्योतिषी देवों का निवास जम्बूद्वीप के बहुमध्य भाग में प्राय: १३ अरब योजन के भीतर नहीं है[1]। उनकी बाहरी चरम सीमा = X ११० योजन दी गई है। यह बाह्य सीमा एक
४९
राजु से अधिक ज्ञात होती है। जहाँ बाह्य सीमा १ राजु से अधिक है उस प्रदेश को अगम्य कहा गया है। ज्योतिषियों का निवास शेष गम्य क्षेत्र में माना गया है।

गा. ७, ७— चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे, ये सब ग्रंथकर्ता के अभिप्रायानुसार अंत में घनोदधि वातवलय (वायु और पानी की बाष्प से मिश्रित वायुमंडल) को स्पर्श करते हैं। तदनुसार, इन समस्त देवों के आसपास किसी न किसी तरह के वायुमंडल का उपस्थित होना माना गया है।

गा. ७, ८— पूर्व पश्चिम की अपेक्षा से उत्तर दक्षिण में स्थित ज्योतिषी देव घनोदधि वातवलय को स्पर्श नहीं करते। (?)

गा. ७, १३-१४— इन गाथाओं में फिर से प्रतरांगुल के लिये प्रतीक ४ तथा संख्यात के लिये Q (यथार्थ प्रतीक मूल ग्रन्थ में देखिये) लिया गया है।

---

१ इस महाधिकार में ग्रंथकार ने ज्योतिष का बृहत् प्ररूपण नहीं किया है किन्तु रूपरेखा देकर कुछ ही महत्त्वपूर्ण फलों का निर्देशन किया है। ज्योतिर्लोक विज्ञान का अस्तित्व भारत, बेबीलोन, मिश्र और मध्य अमेरिका में ईसा से ५००० से ४००० वर्ष पूर्व तक पाया जाता है। आकाश के पिंडों की स्थिति और अन्य घटनाओं के समय की गगनाएँ तत्कालीन साधारण यंत्रों पर आधारित थीं।

प्राचीन काल में, ग्रहणों का समय, एकत्रित किये गये पिछले अभिलेखों के आधार पर बतलाया जाता था। पर ग्रहण, बहुधा, बतलाये हुए समय पर घटित न होकर कुछ समय पहिले या उपरांत हुआ करते थे। इस प्रकार बादर रूप से प्राप्त उनके सूत्र प्रशंसनीय तो थे, पर उनमें सुधार न हो सके। जब मिलेशस के थेल्स (ग्रीस का विद्वान) ने ईसा से प्राय: ६०० वर्ष पूर्व प्रयोग द्वारा बतलाया कि चंद्रमा पृथ्वी की तरह प्रकाशहीन पिंड है और जो प्रकाश हमें दिखाई देता है वह सूर्य का परावर्तित प्रकाश है तब ग्रहण का कारण चंद्र का सूर्य और पृथ्वी के बीच आना और पृथ्वी का सूर्य और चन्द्र के बीच आना माना जाने लगा। सर्वप्रथम, ग्रीस के निवासियो ने पृथ्वी को गोल बतलाया; क्योंकि जो नक्षत्र उन्हें उत्तर में दिखाई देते थे, उनके बदले में दक्षिण दिशा में दूर तक यात्रा करने में उन्हें नये नक्षत्र दिखलाई पड़े। साथ ही, चंद्रग्रहण के समय पृथ्वी की छाया सूर्य पर वृत्ताकार दिखाई दी। यहां तक कि इरेटोस्थिनीज (ईसा से २७६-१९६ वर्ष पूर्व) ने इसके आधार पर पृथ्वी की त्रिज्या भी गणना के आधार पर प्राय: ४००० मील से कुछ कम निश्चित कर दी।

गा. ७, ३६— पृथ्वीतल से चंद्रमा की ऊँचाई ८८० योजन बतलाई गई है। एक योजन का माप आधुनिक ४५४५ मील लेने पर चंद्रमा की दूरी ८८०×४५४५ अथवा ३७,९३६०० मील प्राप्त होती है। आधुनिक सिद्धान्तों के अनुसार वैज्ञानिकों ने चंद्रमा की दूरी प्रायः २,३८००० मील निश्चित की है।

गा. ७, ३६-३७— जहाँ आधुनिक वैज्ञानिकों ने चंद्रमा को स्वप्रकाशित नहीं माना है, वहाँ ग्रंथकार के अनुसार चंद्रमा को स्वयं प्रकाशवान मानकर उसे शीतल बारह हजार किरणों सहित बतलाया है। न केवल वहाँ की पृथ्वी ही, वरन् वहाँ के जीव भी उद्योत नामकर्म के उदय से संयुक्त होने के कारण स्वप्रकाशित कहे गये हैं।

गा. ७, ३९— ग्रंथकार के वर्णन के अनुसार जैन मान्यता में चंद्रमा अर्द्धगोलक (Hemispherical) है। उस अर्द्ध गोलक की त्रिज्या $\frac{२८}{६१}$ योजन मानी गई है अर्थात् व्यास प्रायः २($\frac{२८}{६१}$)×४५४५ = प्रायः ४१७२ मील माना गया है आधुनिक ज्योतिषविज्ञों ने अपने सिद्धान्तानुसार इस प्रमाण को प्रायः २१६३ मील निश्चित किया है। इस प्रकार ग्रंथकार के दत्त विन्यासानुसार यदि अवलोकनकर्ता की आंख पर चंद्रमा के व्यास द्वारा आपतित कोण निकाला जाय तो वह $\frac{५६}{६१\times८८०}$ रेडियन अथवा ३·५९ कला (3·59 minutes) होगा। आधुनिक यंत्रों से चंद्रमा के व्यास द्वारा आपतित कोण प्रायः ३१ कला (31′7″) प्राप्त हुआ है। यह माप या तो प्रकाश के किसी विशेष अज्ञात सिद्धान्तानुसार हमें यंत्रों द्वारा गलत प्राप्त हो रहा है अथवा ग्रंथकार द्वारा दिये गये माप में कोई त्रुटि है।

यहां एक विशेष बात उल्लेखनीय वह है कि जैन मान्यतानुसार अर्द्धगोलक ऊर्ध्वमुख रूप से अवस्थित है जिससे हम चंद्रमा का केवल निम्न भाग (अर्द्ध भाग) ही देखने में समर्थ हैं। इसी बात की आधुनिक वैज्ञानिकों ने पुष्टि की है कि चंद्रमा का सर्वदा केवल एक ही और वही अर्द्ध भाग हमारी ओर होता है और इस तरह हम चंद्रमा के तल का केवल ५९% भाग (कुछ और विशेष कारणों से) देखने में समर्थ हैं। वेधयंत्रों से प्राप्त अवलोकनों के आधार पर कुछ खगोलशास्त्रियों का अभिमत है कि मंगल आदि ग्रहों के भी केवल अर्द्ध विशिष्ट भाग पृथ्वी की ओर सतत रहते हैं। इसका कारण, उनका अक्षीय परिभ्रमण उपधारित किया गया है।

गा. ७, ६५— इसके पश्चात्, ग्रंथकार ने सूर्य की ऊँचाई चद्रमा से ८० योजन कम अथवा ८०० योजन (आधुनिक ८००×४५४५ = ३६३६००० मील) बतलाई है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने सूर्य की दूरी प्रायः ९२, ७००,००० मील निश्चित की है।

ईसासे प्रायः चार सौ वर्ष पूर्व ग्रीक विद्वानों ने आकाश पिंडों के दैनिक परिभ्रमण का कारण पृथ्वी का स्वतः की अक्ष पर परिभ्रमण सोचा। पर, एरिस्टाटिल (ईसासे ३८४–३२२ वर्ष पूर्व) ने पृथ्वी को केन्द्र मानकर शेष चंद्र, सूर्य तथा ग्रहों का परिभ्रमण क्लिष्ट रीति द्वारा निश्चित किया। यह ज्ञान अपना प्रभाव २००० वर्ष तक जमाये रहा। इसके विरुद्ध पोलैण्ड के कापरनिकस (१४७३–१५४३) ने सम्पूर्ण जीवन के परिश्रम के पश्चात् सूर्य को मध्य में निश्चित कर शेष ग्रहों का उसके परितः परिभ्रमणशील निश्चित किया। सूर्य से उनकी दूरियां भी निश्चित कीं। इसके पश्चात्, प्रसिद्ध ज्योतिषशास्त्री जान केपलर (१५७१–१६३०) ने ग्रहो के पथों को ऊनेन्द्र निश्चित किया तथा सूर्य को उनकी नाभि पर स्थित बतलाया। उसने यह भी निश्चित किया कि ग्रह से सूर्य को जोड़नेवाली त्रिज्या समान समयमें समान क्षेत्रों (areas) को तय करती है; और यह कि किसी ग्रह के आवर्त काल के अंतराल के वर्ग (square of the periodic time) और उसकी सूर्य से माध्य दूरी (mean distance) के घन, की निष्पत्ति निश्चल रहती है। दूरबीन ने भी बृहस्पति और शनि आदि ग्रहों के उपग्रहों को खोजने में सहायता की। सन् १६८७ मे न्यूटन ने विश्वको जान केपलर के फलो

गा. ७, ६६— जैन मान्यतानुसार, सूर्य को प्रकाशवान तथा १२००० उष्णतर किरणों से संयुक्त माना है। उसमें जीवों का रहना निश्चित किया है तथा उन्हें भी स्वतः प्रकाशित बतलाया है।

गा. ७, ६८— सूर्य को भी चंद्रमा की तरह अर्द्ध गोलक बतलाया गया है, जहां उसका विस्तार ४८/६१ योजन अथवा ४८/६१ × ४५४५ = प्रायः ३५७६ मील निश्चित किया गया है। वैज्ञानिकों ने व्यास का प्रमाण ८६४,००० मील निश्चित किया है।

अवलोकनकर्ता की आंख पर जैन मान्यानुसार दत्त विन्यास के आधार पर सूर्य का व्यास ४८/(६१×८००) रेडियन अथवा ३·३८ कला (3·38 minuts) आपतित करेगा। पर, आधुनिक यंत्रों द्वारा इस कोण का मध्य मान प्रायः ३२ कला (32 minuts) निश्चित किया गया है।

गा. ७, ८३— बुध ग्रह की ऊँचाई पृथ्वीतल से लम्बरूप ८८८ योजन अथवा ४०,३५,९६० मील बतलाई गई है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने अपने सिद्धांतों के आधार पर इस दूरी को प्रायः ४६,९२९,२१० मील निश्चित किया है। इन्हें भी ग्रंथकार ने अर्द्ध गोलक कहा है।

गा. ७, ८९— शुक्र ग्रहों की ऊंचाई पृथ्वीतल से लम्ब रूप ८९१ योजन अथवा ४,०४९,५९५ मील बतलाई गई है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने यह दूरी २५,६९८,३०८ मील निश्चित की है। इन नगर तलों की किरणों की संख्या २५०० बतलाई गई है।

गा. ७, ९३— बृहस्पति ग्रहों की ऊँचाई पृथ्वीतल से लम्ब रूप ८९४ योजन अथवा ४,०६३,२३० मील बतलाई गई है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने यह दूरी ३९०,३७६,८९२ मील निश्चित की है।

गा. ७, ९६— मंगल ग्रहों की ऊँचाई पृथ्वीतल से लम्ब रूप ८९७ योजन अथवा ४०,७६,८६५ मील बतलाई गई है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने यह दूरी ४८,६४३,०३८ मील निश्चित की है।

गा. ७, ९९— शनि ग्रहों की ऊँचाई पृथ्वीतल से लम्ब रूप ९०० योजन अथवा ४०,९०,५०० मील बतलाई गई है। आधुनिक सिद्धान्तों पर यह दूरी ७९३,१२९,४१० मील निश्चित की गई है।

गा. ७, १०४-१०८— इसी प्रकार, नक्षत्रों की ऊँचाई ८८४ योजन तथा अन्य तारागणों की ऊँचाई ७९० योजन है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने ताराओं को सूर्य सदृश प्रकाश का पुंज माना है। सबसे पास के तारे Alpha Centauri की दूरी उन्होंने सूर्य की दूरी से २२४,००० गुनी मानी है। अन्य तारों की दूरी तुलना में अत्यधिक है।

के आधार पर गुरुत्वाकर्षण शक्ति का एक महान् नियम दिया। इसी शक्ति के आधार पर ज्वार और भाटे की घटनाओं को समझाया गया। सन् १८४५ के पश्चात् तीन नवीन ग्रहों यूरेनस, नेपच्यून और प्लूटो का गुरुत्वाकर्षण शक्ति पर आधारित प्रवैगिकी तथा दूरबीन की सहायता से आविष्कार हुआ। दूरबीन के सिवाय, वितन्तु दूरबीन तथा सूर्यरश्मिविश्लेषण और फोटोग्राफी आदि से अब आकाश के पिंडो की बनावट, उनके वायुमंडल, उनकी गति आदि के विषय में निश्चित रूप से आश्चर्यजनक एवं महत्त्वपूर्ण बातें बतलाई जा सकती हैं। वैज्ञानिकों ने पृथ्वी का वायुमंडल केवल प्रायः २०० मील की ऊँचाई तक निश्चित किया है। सूर्य, चंद्र और ग्रहों के विषय में तो उनकी जानकारी एक चरम सीमा तक पहुँच चुकी है। चंद्रकलाओं का कारण प्रकाशहीन चंद्र का सूर्य से प्रकाश प्राप्त होना तथा चंद्र का विशेष रूप से गमन करना बतलाया गया है। सूर्य में उपस्थित काले धब्बों का आवर्तीय समय में दृष्टिगोचर होना भी सूर्य का विशेष रूप से गमन तथा उसी में उपस्थित विशेष तत्त्वों को बतलाया गया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अब सूर्य और चंद्र ग्रहण का बिल्कुल ठीक समय गणना द्वारा निकाला जाता है। सूर्य के स्वपरिभ्रमण को सूर्यरश्मिविश्लेषण या रंगावलेक्ष यंत्र द्वारा डाप्लर के सिद्धान्त का उपयोग कर परिपुष्ट किया गया है। इनके सिवाय, वर्षों में

गा. ७, ११७ आदि— जितने वलयाकार क्षेत्र में चंद्रबिम्ब का गमन होता है उसका विस्तार $५१०\frac{४८}{६१}$ योजन है। इसमें से वह १८० योजन जम्बूद्वीप में तथा $३३०\frac{४८}{६१}$ योजन लवण समुद्र में रहता है। आकृति— ३५ देखिये।

आकृति—३५

चित्र का माप प्रमाण नहीं है :— बिन्दुओं के द्वारा दर्शाई गई परिधि जम्बूद्वीप की है जिसका विस्तार १००००० योजन है। मध्य में सुमेरु पर्वत है जिसका विस्तार १०००० योजन है। चंद्रों के चारक्षेत्र में पंद्रह गलियां हैं जिनमें प्रत्येक का विस्तार $\frac{४८}{६१}$ योजन है, क्योंकि उन्हीं में से केवल चद्रमा का गमन होता है। चूंकि यह गमन एकसा होना चाहिये अर्थात् चंद्र का हटाव अकस्मात् (प्रायः ४८ घंटे के पश्चात्) एक बीथी से दूसरी बीथी में न होकर प्रतिसमय एकसा होना चाहिये, इसलिये चंद्र का पथ समापन (winding) और असमापन (unwinding) कुंतल (spiral) होना चाहिये।
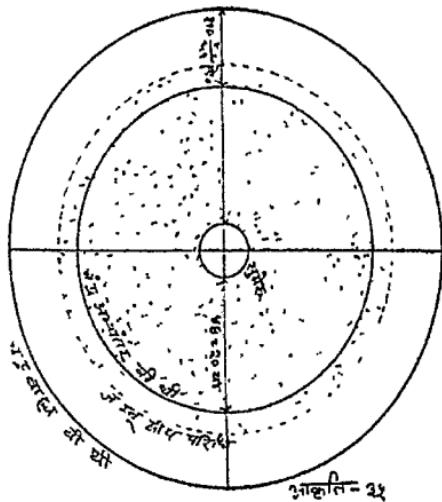
एक-एक बीथी का अंतराल $३५\frac{३०}{६१}\frac{४}{७}$ योजन अथवा [प्रायः $३५\frac{१}{२}$ × ४५४५ मील], $१६१३४७\frac{१}{२}$ मील है। वलयाकार क्षेत्र का विस्तार $५१०\frac{४८}{६१}$ योजन अथवा [प्रायः ५११ × ४५४५ मील], २३२२४९५ मील है।

दृष्टिगोचर होनेवाले धूमकेतुओं तथा विविध समय पर उल्कापात करनेवाले उल्कातारों के पथों को भी निश्चित किया जा चुका है। पृथ्वी का भ्रमण न केवल अपनी अक्ष पर, वरन् सूर्य के परितः भी माना जाता है। मंडल का १२ मील प्रति घंटे की गति से, हरकुलीज नामक नक्षत्र के विगा तारे के पास solar apex (सौर्यशीर्ष) की ओर गमन निश्चित किया गया है। पर, वैज्ञानिक पृथ्वी की यथार्थ गति आज तक नहीं निकाल सके और आईंसटीन के कथनानुसार प्रयोग द्वारा कभी न निकाल सकेंगे। पृथ्वी की शुद्ध एव निरपेक्ष गति को कुछ अवधारणाओं के आधार पर माइकेल्सन और मारले ने अपने अति सूक्ष्म प्रयोगों द्वारा निकालने का प्रयत्न किया था, पर वे जिस फल पर पहुँचे उससे भौतिक शास्त्र में नवीन उपधारणाओं (postulates) का पुनर्गठन आईंसटीन ने सापेक्षवाद के आधार पर किया। यह सिद्धान्त तीन प्रसिद्ध प्रयोगों द्वारा उपयुक्त सिद्ध किया जा चुका है।

आज कल ज्योतिषशास्त्रियों ने सम्पूर्ण आकाशको ८८ खंडों में, ८८ नक्षत्रों के आधार पर विभाजित किया है। आकाश के किसी भी भाग का अच्छा से अच्छा अध्ययन तथा उस भाग में आकाशीय पिंडों का गमन फोटोग्राफी के द्वारा हो सकता है। तारों के द्वारा विकीर्णित प्रकाश और ताप ऊर्जा (energy) के आपेक्षिक मानों को सूक्ष्म रूप से ठीक निश्चित करने के लिये कई महत्ता संहतियां (magnitude systems) स्थापित की गई हैं, वे क्रमशः (Visual Magnitudes) दृष्ट या आभासी महत्ताएं, (Photographic Magnitudes) भाचित्रणीय महत्ताएँ (Photo-visual Magnitudes) भाभासी महत्ताएं और (Photo-electric Magnitudes) भाविद्युतीय महत्ताएं आदि हैं। सन् १७१८ में महान् ज्योतिषी हेली ने बतलाया कि हिपरशसके समय से तीन उज्ज्वल तारे सीरियस, आर्कचरस

जम्बूद्वीप में दो चंद्र माने गये हैं जो सम्मुख स्थित रहते हैं। चारों ओर का क्षेत्र संचरित होने के कारण चारक्षेत्र कहलाता है।

गा. ७, १६१— अभ्यंतर चंद्रवीथी की परिधि ३१५०८९ योजन तथा त्रिज्या (जम्बूद्वीप के मध्य बिन्दु से) ४९८२० योजन मानी गई हैं। यदि π का मान $\sqrt{१०}$ अथवा प्रायः ३·१६ लिया जाय तो परिधि (४९८२०) × २ × ३·१६ = ३११७०२·४ योजन प्राप्त होती है।

गा. ७, १७८— बाह्य मार्ग की परिधि का प्रमाण ३१८३१३ $\frac{३}{४}$ योजन है।

गा. ७, १८९— इस गाथा में एक महान् सिद्धान्त निहित है। जब त्रिज्या बढ़ती है तब परिधिपथ बढ़ जाता है और नियत समय में ही वह पथ पूर्ण करने के लिये चंद्र व सूर्य दोनों की गतिया बढ़ती जाती हैं जिससे वे समान काल में असमान परिधियों का अतिक्रमण कर सकें। उनकी गति काल के असंख्यातवें भाग में समान रूप से बढ़ती होगी अर्थात् बाह्य मार्ग की ओर अग्रसर होते हुए उनकी गति समत्वरण (uniform acceleration) से बढ़ती होगी और अन्तः मार्ग की ओर आते हुए सम विमन्दन (uniform retardation) से घटती होगी।

गा. ७, १८६— चंद्रमा की रेखीय गति (linear velocity) अन्तः वीथी में स्थित होने पर १ मुहूर्त (या ४८ मिनिट) में ३१५०८९ ÷ ६२ $\frac{२३}{२२१}$ = ५०७३ $\frac{७७४४}{१३७२५}$ योजन होती है। अथवा, चंद्रमा की गति इस समय १ मिनिट में प्रायः

$$\frac{५०७४ \times ४५४५}{४८} = ४८०४४० \text{ मील रहती है।}$$

गा. ७, २००— जब चंद बाह्य परिधि में स्थित रहता है तब उसकी गति १ मिनिट में प्रायः

$$\frac{५१२५ \times ४५४५}{४८} = ४८५२७३\frac{२१}{४८} \text{मील रहती है।}$$

और एलडेबरान अपने पड़ोसी तारों की अपेक्षा अपनी स्थिति से कुछ मापने योग्य मान में हट गये हैं। तब तक तारों को एक दूसरे की अपेक्षाकृत स्थिति में सर्वदा स्थिर माना जाता था और इस आविष्कार ने 'तारों के ब्रह्माण्ड' की अवधारणा मे क्राति उत्पन्न कर दी। क्या और अन्य तारे भी हजारों वर्षों में ऐसी ही गति से गमन कर अपनी अपनी स्थिति से हटते होंगे? हेली के इस आविष्कार का नाम Proper Motions of Stars रखा गया।

तारों के इन यथार्थ गमनों Proper Motions को समझाने के लिये सम्पूर्ण सौर्यमंडल का गमन हरकुलीज नक्षत्र के विगा तारे की ओर मानने का प्रयास किया गया है, पर डब्लु. एम्. स्मार्ट के शब्दों में, "At present, we are ignorant of the propermotions of all but the nearest stars; when our inquiries embrace the most distant regions of the stellar universe the solar motion can then be defined in relation to the whole body of stars regarded as a single immense group. Even then we are no nearer the conception of absolute solar motion, for extra-stellar space is unprovided with anythings in the shape of fixed land marks", यह स्थिति भी असंतोषजनक है, क्योंकि सूर्य या तारों की प्रकेवल गति (absolute velocity) निकालना एक कल्पना (abstraction) मात्र है। इससे केवल सूर्य की गति की दिशा का ज्ञान भर होता है। इन यथार्थ गमनों (Proper motions) में चक्रीय परिवर्तन भी होते हैं। सन् १९०४ के पूर्व वैज्ञानिकों ने यही धारणा बना रखी थी कि तारों का गमन (movement) किसी अचल नियम के आधार पर नहीं होता है। उसके पश्चात् सन् १९०४ में प्रोफेसर केपटिन (Kapteyn) ने तारों के दो प्रकार की धाराओं (streams of star)

गा. ७, २०१ आदि— चंद्रमा की कलाओं[1] तथा ग्रहण को समझाने के लिये चंद्रबिम्ब से ४ प्रमाणांगुल नीचे कुछ कम १ योजन विस्तारवाले काले रंग के दो प्रकार के राहुओं की कल्पना की गई है, एक तो दिन राहु और दूसरा पर्व राहु। राहु के विमान का बाहल्य $\frac{२५०}{८०००}$ योजन है। आकृति-३६ देखिये।

स्केल :- २" = १ योजन

कुछ कम १ योजन

$\frac{२५०}{८०००}$ योजन

आकृति :- ३६

मीलों में इसका प्रमाण ४५४५ × $\frac{२५०}{८०००}$ अथवा १४२$\frac{१}{३२}$ मील है।

दिनराहु की गति चंद्रमा की गति के समान मानी गई है और उसे कलाओं का कारण माना गया है।
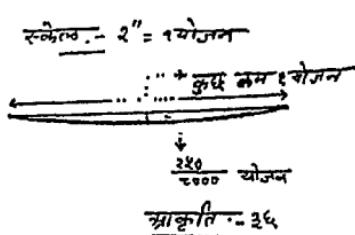
गा. ७, २१३— चांद्र दिवस का प्रमाण २१$\frac{२३}{४४२}$ मुहूर्त अथवा ३१$\frac{२३}{४४२}$ × ४८ मिनिट अथवा २४ घंटे ५०$\frac{११०}{२२१}$ मिनिट माना गया है।

गा. ७, २१६— पर्वराहु को छह मासों में होनेवाले चंद्रग्रहण का कारण माना गया है।

गा. ७, २१७— इस राहु का इस स्थिति में गतिविशेषों से आ जाना नियम से होता माना गया है।

चंद्रों की तरह जम्बूद्वीप में दो सूर्य माने गये हैं जो चार क्षेत्रों में उसी समान गमन करते हैं। विशेषता यह है कि सूर्य की १८४ गलियां हैं। प्रत्येक गली का विस्तार सूर्य के व्यास के समान है तथा प्रथम पथ और मेरु के बीच का अंतराल ४४८२० योजन है जो चंद्र के लिये भी इतना ही है।

प्रत्येक वीथी का अंतराल २ योजन अथवा ९०९० मील निश्चित किया गया है।

गा. ७, २२८— जम्बूद्वीप के मध्य बिन्दु को केन्द्र मान कर सूर्य के प्रथम पथ की त्रिज्या (५०००० −१८० = ४९८२० योजन है। दोनों सूर्य सम्मुख स्थित रहते हैं।

गा. ७, २३७— अंतिम पथ में स्थित रहने पर दोनों सूर्यों के बीच का अंतर २ × (५००३३०) योजन रहता है।

सूर्यपथ भी चंद्रपथ के समान समापन winding और असमापन unwinding कुंतल spiral के समान होता है। चन्द्रमा सम्बन्धी १५ ऐसे चक्र और सूर्य के सम्बन्ध में १८४ ऐसे चक्र होते हैं।

गा. ७, २४६ आदि— भिन्न २ नगरियों को दर्शाने के लिये उनकी परिधिया (उनकी केन्द्र से दूरी अथवा अक्षांश रेखाएं) दी गई हैं। ये नगरियां इस प्रकार स्थित मानी गई हैं कि प्रत्येक की परिधि उत्तरोत्तर क्रमशः १७१५७$\frac{६}{८}$ और १४७८६ योजन बढ़ी हुई ली गई हैं।

---

१ वैज्ञानिकों ने दूरबीन के द्वारा ग्रहों में भी चंद्र के समान कलायें देखी हैं जिनका समाधान उसी सिद्धान्त पर होता है जिस सिद्धान्त पर चंद्रमा की कलाओं के होने का समाधान होता है। त्रिलोकसार में उपर्युक्त कथन के सिवाय एक और कथन यह है—अथवा कलाओं का कारण चंद्रमा की विशेष गति है।

का आविष्कार किया जिसके सम्बन्ध में श्री डब्लु. एम्. स्मार्ट के ये शब्द पर्याप्त हैं, "Star streaming remains a puzzling phenomenon : tentative explanations have indeed been offered, but it would appear that its complete elucidation is a task for future Astronomers." प्रथम महत्ता (first magnitude) का तारा सीरियस जिसकी दूरी ४७,०००,०००,०००,००० मील मानी गई है, दृष्टिरेखा की तिर्यक् (cross) दिशा में १० मील प्रति सेकण्ड की गति से चलायमान निश्चित किया गया है। रश्मिविश्लेषक यंत्रों के द्वारा तारों का भिन्न २ श्रेणियों में विभाजन कर, भिन्न-भिन्न रंगोवाले तारों के भिन्न-भिन्न तापक्रम को निश्चित कर उनकी,

गा. ७, २६५ आदि— जिस प्रकार चंद्रमा की गति बाह्य मार्ग की ओर अग्रसर होते हुए समत्वरण से बढ़ती है उसी प्रकार सूर्य की भी गति होती है। वह भी समान काल में असमान परिधियों को सिद्ध करता है। एक मुहूर्त अथवा ४८ मिनिट में प्रथम पथ पर उसकी गति ५२५१ $\frac{२९}{६०}$ योजन अथवा एक मिनिट में प्रायः

$$\frac{५२५१\frac{१}{२} \times ४५४५}{४८} = ४९७२५१\frac{३९}{९६}$$ मील होती है।

गा. ७, २७१— १८४वें मार्ग में उसकी गति १ मिनिट में प्रायः

$$\frac{५३०५\frac{१}{४} \times ४५४५}{४८} = ५०२३४०\frac{१६५}{३१२}$$ मील होती है।

गा. ७, २७२— चंद्र की तरह सूर्य के नगरतल के नीचे केतु के (काले रंग के) विमान का होना माना गया है। जहां विस्तार और बाहल्य राहु के विमान के समान माना गया है।

गा. ७, २७६— यहां ग्रंथकार ने समस्त जम्बूद्वीप तथा कुछ लवण समुद्र में होनेवाले दिन-रात्रि के प्रमाण को बतलाने के लिये मुख्यतः १९४ परिधियों या अक्षांशों में स्थित प्रदेशों का वर्णन किया है।

गा. ७, २७७— जब सूर्य प्रथम पथ में अर्थात् सबसे कम त्रिज्यावाले पथपर स्थित होता है तो सब परिधियों में १८ मुहूर्त का दिन अथवा १४ घंटे २४ मिनिट का दिन और १२ मुहूर्त की रात्रि अथवा ९ घटे ३६ मिनिट की रात्रि होती है (यहां मुहूर्त को दिन-रात का ३० वां भाग लिया गया है)। ठीक इसके विपरीत जब सूर्य बाह्यतम पथ में रहता है तब दिन १२ मुहूर्त का तथा रात्रि १८ मुहूर्त की होती है।

गा. ७, २९०— ग्रंथकार ने उपर्युक्त प्रकार से दिन-रात्रि होने का कारण सूर्य की गति विशेष बतलाया है।

गा. ७, २९२-४२०— इन गाथाओं में दिये गये आतप व तिमिर क्षेत्रों का स्पष्टीकरण निम्न लिखित चित्र से स्पष्ट हो जावेगा। यहां आकृति–३७ देखिये (पृ. ९३)।

जब सूर्य प्रथम बीथी पर स्थित होता है उस समय आतप व तिमिर क्षेत्र गाड़ी की उद्धि (spokes) के प्रकार के होते हैं। मान लिया गया है कि किसी विशिष्ट समय पर (at a particular instant) उस बीथी पर सूर्य स्थिर हैं। उस समय बननेवाले आतप व तिमिर क्षेत्र के वर्णन के लिये गाथा २९२-९५, ३४३ और ३६२ देखिये।

जब सूर्य बाह्य पथ में स्थित रहता है तब चित्र ठीक विपरीत होता है, अर्थात् तापक्षेत्र तिमिर-क्षेत्र के समान और तिमिरक्षेत्र तापक्षेत्र के समान हो जाता है।

दृष्टिरेखा (line of sight) में गति को भी निश्चित किया गया है। २०० मील प्रति सेकंड से लेकर २५० मील प्रति सेकंड तक की गतिवाले तारे प्रयोगों द्वारा प्रसिद्ध किये जा सके हैं। ये गतियां उन तारों के यथार्थ गमनों (proper motions) का होना सिद्ध करती हैं। तारे और भी कई तरह के होते हैं, जैसे द्विमय या युग्म तारे (double stars), चल तारे (variable stars) राक्षस और बौने तारे (giant and dwarf stars) इत्यादि।

अन्त में नीहारिकाओं (Nebulae) के विशद विवेचन में न पड़कर केवल उनके प्रकारों तथा उनके अवलोकनीय प्रयोगों द्वारा आधुनिक ब्रह्माण्ड की अवधारणा की झलक देखना ही पर्याप्त होगा। अपने लक्षणों के आधार पर तारापुंज नीहारिकाओं को चार प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है: अंध नीहारिकाएं (dark nebulae) धुंधली नीहारिकाएं (diffuse luminous nebulae),

आकृति—३०
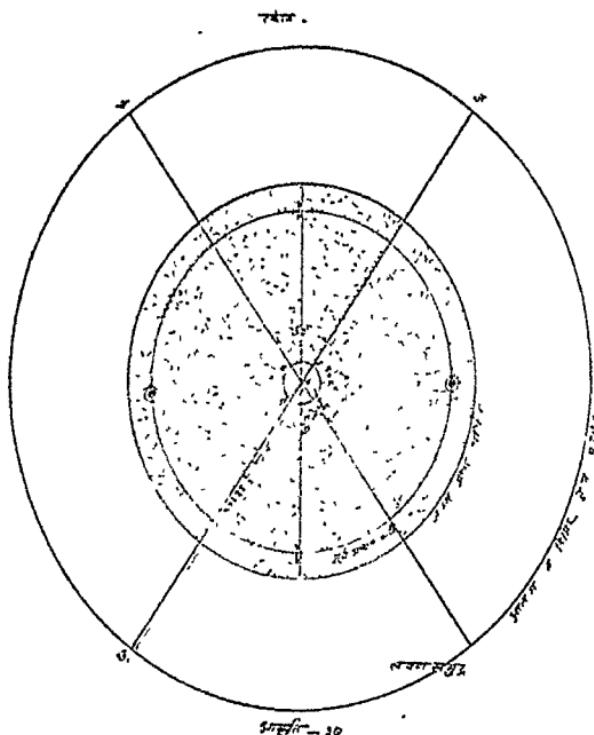
चित्र में चन्द्रमा और सूर्य की स्थितियां किसी समय पर क्रमशः ☽ और ⊙ प्रतीको द्वारा दर्शाई गई हैं। इस दशा में आतप और तम क्षेत्र के अनुपात ३:२ मे हैं अर्थात् आतप क्षेत्र १०८°, १०८° तथा तम क्षेत्र ७२°, ७२° के अन्तर्गत निहित हैं। आतप व तिमिर क्षेत्रों का विस्तार केन्द्र से लेकर लवण समुद्र के विष्कम्भ के छठवें भाग तक है अथवा ५०००० + $\frac{२०००००}{६}$ = ८३३३३$\frac{१}{३}$ योजन तक है। मेरु पर्वत के ऊपर क ख भाग मे ९४८६[illegible] योजन चाप पर सूर्य का आतप क्षेत्र रहता है और क ग भाग में ६३२३[illegible] योजन चाप पर तिमिर क्षेत्र रहता है चाहे चन्द्रमा वहां हो या न हो। इसी प्रकार सम्मुख स्थित अन्य सूर्य का आतप और तिमिर क्षेत्र रहता है। ये क्षेत्र सूर्य के गमन से प्रति क्षण बदलते रहते हैं अथवा सूर्य की स्थिति के अनुसार तिष्ठते हैं। सूर्य की इस स्थिति में अन्य परिधियों पर भी इसी अनुपात में आतप एवं तिमिर क्षेत्र होते हैं।

ग्रहीय नीहारिकाएं (planetary nebulae) और कुन्तल नीहारिकाएं (spiral nebulae).

रंगावलेक्ष (spectroscope) या रश्मिविश्लेषक यंत्र द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि तारों के गोल पुंज (globular clusters) दृष्टिरेखा की दिशा में मध्यमान से (average) ७५ मील प्रति सेकंड की गति से चलायमान हैं। उपर्युक्त श्रेणियों में प्रथम तीन प्रकार की नीहारिकायें तो आकाशगंगा के क्षेत्र के आसपास पाई जाती हैं और अन्तिम श्रेणी की नीहारिकाएं आकाशगंगा से दूर पाई जाती हैं। रश्मिविश्लेषक यंत्रों की सहायता से प्राप्त फलों से वैज्ञानिकों ने निश्चित किया है कि भिन्न भिन्न दूरी पर स्थित नीहारिकाएं दूरी के अनुसार अधिकाधिक प्रवेग से दृष्टिरेखा (line of sight

यहां आतप क्षेत्र का क्षेत्रफल सूत्रानुसार निम्न लिखित होगा—

क्षेत्रफल म च छ $= \frac{१}{२}(\text{त्रिज्या})^{२} \times$ (कोण रेडियन माप में)

$= \frac{१}{२}(८३३३३\frac{१}{३})^{२} \cdot \frac{१०८}{१८०} \cdot \pi$

$= \frac{१}{२}(८३३३३\frac{१}{३})^{२} \cdot \frac{३}{५}\pi$

π का मान $\sqrt{१०}$ लेने पर, ग्रंथकार ने इस क्षेत्रफल को प्रायः ६५८८०७५०००० वर्ग योजन निश्चित किया है। इसी प्रकार तिमिर क्षेत्र म च ज का क्षेत्रफल

$= \frac{१}{२}(८३३३३\frac{१}{३})^{२} \cdot \frac{७२}{१८०}\pi$ होता है।

π का मान $\sqrt{१०}$ लेकर यह प्रमाण प्रायः ४३९२०५०००० वर्ग योजन होता है।

३४३वीं गाथा के बाद विशेष विवरण में ताप क्षेत्र निकालने का साधारण सूत्र दिया गया है। किसी विशिष्ट दिन, जिसमें M मुहुर्त हो, जब कि सूर्य nवीं बीथी पर स्थित हो तब P परिधि पर तापक्षेत्र निकालने के लिये निम्न लिखित सूत्र है।

---

or radial velocity) या अरीय दिशा में हमसे दूर होती जा रही हैं। जैसे २३,०००,००० प्रकाश वर्ष दूर की नीहारिकाएं प्रायः ३००० मील प्रति सेकण्ड की गति से दृष्टिरेखा में, और १०५,०००,००० प्रकाश वर्ष दूर की नीहारिकाएं प्रति सेकण्ड १२,००० मील प्रति सेकण्ड की गति से दृष्टिरेखा में हमसे दूर होती जा रही हैं।

सन् १७५० में दूरबीन की सहायता से नीहारिकाओं के प्रदेश का आवरण हटा और गठित गोल पुंज (compact globular cluster), चपटे होते जानेवाले ऊनेन्द्रज की भांति (flattening ellipsoidal) और असमापन कुन्तल (unwinding spiral) नीहारिकाएं दृष्टिगोचर हुईं, जिनमें औसत नीहारिका हमारे सूर्य से चमक में ८५०००००० गुनी तथा मात्रा में १०००००००००० गुनी निश्चित हुईं, जहां दिखनेवाली धुंधलाहट, उसकी दूरी के अनुसार थी। हमारी आकाशगंगा एक पुरानी असमापन कुन्तल नीहारिका निश्चित की गई जिसकी अंततारीय वरिमा (interstellar space) में विभिन्न प्रकार की वायु के बादल और धूल होने से आकाशगंगा के हृदय और धारा (edge) में स्थित नीहारिकाओं की ऊर्जाएँ (energy) बड़े परिमाण में हम तक पहुँचने से रुक गईं। यह भी देखा गया कि वरिमा (space) के किसी निश्चित क्षेत्र में नीहारिकाओं की संख्या दूरी के अनुसार समरूप से बढ़ती है।

वैज्ञानिकों ने फिर नीहारिका के विषय में आधुनिक दूरबीन से चार प्रकार के माप प्राप्त किये। ये क्रमशः आभासी महत्ता (apparent magnitude), विस्थापन महत्ता (displacement magnitude), संख्या महत्ता (number magnitude) और रंग विस्थापन न्यास (colour displacement data) हैं। इस प्रकार प्राप्त न्यासों से उन्होंने सम्भव ब्रह्माण्डों के विषय में सिद्धान्तों के परिणामों की तुलना कर उन्हें सुधारने का प्रयास किया। उनके सम्भव ब्रह्माण्डों की एक झलक निम्न लिखित संकलित अंग्रेजी अवतरणों से अधिक स्पष्ट हो जावेगी क्योंकि उसके अनुवाद से शायद कुछ ंति हो जावे।

१ "With the relativist cosmologist's postulations that the geometry of space is determined by its contents & that all observers regardless of locations, see the same general picture of the Universe, it is proved mathematically that either the universe is unstable, expanding or contracting. Another aspect of such universe depends upon the curvature calculated. When redshifts are interpreted as velocity shifts, curvature is taken positive ensuring a closd space, finite volume and a definite universe at a

तापक्षेत्र $= \frac{M(P)}{६०}$ योजन। यहां M का मान, n वीं वीथी के प्रमाण से निकाला जा सकता है।

इस प्रकार, तापक्षेत्र न केवल दिन की घटती बढ़ती पर, वरन् परिधि पर भी निर्भर रहता है।

इसका स्पष्टीकरण यह है— कोई भी परिधि का पूर्ण चक्र अथवा सूर्य द्वारा मेरु की पूर्ण प्रदक्षिणा १८+१८+१२+१२ मुहूर्तों अथवा ६० मुहूर्तों मे संपूर्ण होती है। ज्यों ज्यों सूर्य बाह्य मार्ग की ओर जाता है त्यों त्यों दिन का प्रमाण $\frac{२}{६१}$ मुहूर्त प्रतिदिन घटता है और तापक्षेत्र में हानि $\frac{P}{६०} \times \frac{२}{६१}$ वर्ग योजन होती है। यह प्रमाण $\frac{P}{१० \times १८३}$ योजन होगा।

यहां सूर्य के कुल अंतरालों की संख्या १८३ है।

स्पष्ट है, कि सूर्य के दूर जाने पर तापक्षेत्र में हानि होने से तमक्षेत्र में वृद्धि होगी।

गा. ७, ४२१ आदि— ४२२वीं गाथा में उल्लेखित सूत्रों का विवरण पहिले दिया जा चुका है। यहा विशेष उल्लेखनीय बात चक्षुस्पर्श क्षेत्र है। जब सूर्य P_8 वीं परिधि पर स्थित रहता है तब चक्षुस्पर्श-क्षेत्र $P_8 \times \frac{९}{६०}$ योजन होता है। यहां ९ मुहूर्तों में सूर्य निषध पर्वत से अयोध्या तक की परिधि को समाप्त करता है तथा सम्पूर्ण परिधि के परिभ्रमण (revolution) को ६० मुहूर्त में सम्पूर्ण करता है। उत्कृष्ट चक्षुस्पर्शध्वान के लिये P_8 का मान ३१५०८९ योजन है।

गा. ७, ४३५ आदि— भिन्न २ परिधियों पर स्थित भिन्न २ नगरियों में एक ही समय दिये गये समय के आधार पर उन नगरियों के स्थानों को इन गाथाओं में दिये गये न्यासों के आधार पर निश्चित कर सकते हैं और उनकी बीच की दूरी योजनों में निकाल सकते हैं, क्योंकि जितना उनके समय के बीच अंतराल है उतने काल में सूर्य द्वारा जितनी परिधि तय होगी उतना उन नगरों के बीच परिधि पर अंतराल होगा। अन्य परिधियों पर स्थित नगरियों के बीच की दूरी भी निश्चित की जा सकती है।

गा. ७, ४४६— चक्रवर्ती अधिक से अधिक ५५७४$\frac{३}{६}\frac{२}{०}$ योजन की दूरी पर स्थित सूर्य को देख सकता है।

---

particular instant expanding with time. It dates back to about 2×10^9 years, though, the stars of our galaxy are thought to be born 10^{12} years ago.

If the curvature is taken negative the formula shows an open hyperbolic space of radius 3.5×10^8 parsecs—an infinite stationary universe of mean density 10^{-30} gm/cm^3 Limiting case of zero curvature is "flat" Euclidean space with an infinite radius.

Other theories propounded in favour of expanding universe are the 1) kinematic theory based on Euclidean space and mathmatical structure of special relativity and 2) the creation of matter theory. The former is unscientific because of its indefinite definition of distance and avoidance of observational date. The latter is not sound as it assumes creation of matter out of nothing in the form of hydrogen atoms and there is no evidence of its, steady state of universe, assumption.

Thus we seem to face, as once before in the days of Copernicus a choice between a small finite universe and a universe infinitely large plus a new principle of nature."

देखें, यह समस्या, वितन्तु ज्योतिर्लोकविज्ञान (Radio Astronomy) और माउंट पालोमर की २००″ दूरबीन तथा अन्य नवीन आविष्कार कहा तक सुलझा सकते हैं।

इसके साथ ही संसार के द्वीपों की कल्पना की एक झलक को हम स्मार्ट के शब्दों मे प्रस्तुत करेंगे, "According to our present views, the universe is a vast assemblage of separate

गा. ७, ४५४–५६— सूर्य का पथ सूची चय $२ + \frac{४८}{६१} = \frac{१७०}{६१}$ योजन है।

भिन्न-भिन्न जगहों (जम्बूद्वीप, वेदिका और लवण समुद्र) के चारक्षेत्रों में उदयस्थानों को निकालने के लिये उस जगह के चारक्षेत्र के अंतराल में $\frac{१७०}{६१}$ का भाग देते हैं। एक वीथी का मार्ग समाप्त होने पर हटाव $\frac{१७०}{६१}$ योजन होता है। इसी समय दूसरी वीथी पर एक परिभ्रमण के पश्चात् उदय होता है। इस प्रकार सर्व उदयस्थानों की संख्या १८४ है।

गा. ७, ४५८ आदि— ग्रहों के विषय का विवरण काल वश नष्ट हो चुका है।

चंद्र के आठ पथों में (क्रमशः पहिले, तीसरे, छठवें, सातवें, आठवें, दशवें, ग्यारहवें तथा पंद्रहवें पथ में) भिन्न-भिन्न नक्षत्रों का नियमित गमन बतलाया गया है। अथवा, भिन्न-भिन्न गलियों में स्थित नक्षत्रों के नाम दिये गये हैं।

गा. ७, ४६५–४६७— एक चंद्र के नक्षत्रों की संख्या २८ बतलाई गई है पर कुल नक्षत्रों की संख्या (जगश्रेणी)^{२} ÷ [संख्यात प्रतरांगुल × १०९७३१८४०००००००००१९३३३१२] × ७ बतलाई गई है। यह राशि निश्चित रूप से असंख्यात है। इसी प्रकार समस्त तारों की संख्या भी असंख्यात बतलाई गई है।

जम्बूद्वीप के १ चंद्र के २८ नक्षत्रों के ताराओं से बने हुए आकार बतलाये गये हैं। वे भिन्न-भिन्न वस्तुओं और जीवों के आकार के वर्णित हैं।

गा. ७, ४७५-७६— आकाश को १०९८०० गगनखंडों में विभक्त किया गया है जिसमें, १८३५ गगनखंड नक्षत्रों के द्वारा १ मुहूर्त में अतिक्रमित होते हैं। इस गति से कुल गगनखंड चलने में $\frac{१०९८००}{१८३५} = ५९\frac{३०७}{३६७}$ मुहूर्त लगते हैं अथवा $\frac{१०९८००}{१८३५} \times \frac{४८}{६०}$ घंटे अथवा ४७ घंटे, ५२ मिनिट $९\frac{२८५}{१८३५}$ सेकंड लगते हैं। आधा मार्ग तय करने में २३ घंटे ५६ मिनिट $४\frac{१०६०}{१८३५}$ सेकंड लगते हैं।

गा. ७, ४७८ आदि— भिन्न २ नक्षत्रों की गतियां भिन्न २ परिधियों में होने के कारण भिन्न हैं। सभी नक्षत्र, यद्यपि भिन्न परिधियों में स्थित हैं, तथापि वे $५९\frac{३०७}{३६७}$ मुहूर्तों में समस्त गगनखंड तय कर लेते हैं।

---

systems, each of great dimensions, which however, are small in comparison with the stupendous distances by which any two neighbouring systems are separated from one another. We may liken the universe to a broad ocean studded with small islands of varying sizes; one of the largest of these islands is believed to represent the systems of which the solar system is but a humble member, the galactic system as it is called. The other systems are the spiral nebulae whose number we can but vaguely guess."—"The Sun, The Stars, And The Universe." p. 269.

इस तरह हम यह अनुभव करते हैं कि आधुनिक ज्योतिष के सिद्धांतों तथा उनके आधार पर प्राप्त फलों की तुलना हम जैनाचार्यों द्वारा प्रस्तुत ज्योतिर्लोक से तभी कर सकते हैं जब कि चन्द्र और सूर्य आदि तथा वायुमंडल सम्बन्धी बातों को हम भली भांति किन्हीं निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर रख सकें। जहां तक पृथ्वीतल से ज्योतिष बिम्बों की दूरी का सम्बन्ध है, किसी भी स्थान से उनकी दूरी अल्पतम और अधिकतम होती है। इसका मध्यमान पृथ्वी के विभिन्न स्थानों के लिये अति भिन्न-भिन्न होंगे जैसा कि जम्बूद्वीप के क्षेत्रों के विस्तार से स्पष्ट है। इसी कारण हमने केवल पृथ्वीतल से उनकी उदग्र ऊँचाई दी है। आधुनिक दूरियों के वर्णन में हमने केवल मध्यमान दूरियों का वर्णन किया है जो पृथ्वी की मात्र एक योजन त्रिज्या के घेरे में आ जाने से सम्बन्धित हैं। स्पष्ट है कि मेरु के परितः बिम्बों का परिभ्रमण पथ पृथ्वीतल के अवलोकनकर्ता की आंख पर तिर्यक् शंकु आपतित करता है।

गा. ७, ४९३— जिस नक्षत्र का अस्त होता है उस समय उससे १६वां नक्षत्र उदय को प्राप्त होता है। गणना स्पष्ट है, क्योंकि दिन और रात्रि में १८ : १२ आदि का अनुपात रहता है, इसलिये स्थूल रूप से १७ और ११; १६ और १२ आदि नक्षत्र क्रमशः ताप और तम क्षेत्र मे रहते होंगे।

गा. ७, ४९८— सूर्य, चन्द्र और ग्रहों का गमन कुंचीयन या समापन कुन्तल (winding spiral) असमापन कुंतल (unwinding spiral) में लेता है पर नक्षत्र तथा तारों का 'अयनों का नियम' नहीं है।

गा. ७, ४९९— सूर्य के छः मास (एक अयन) में १८३ दिन-रात्रियां तथा चंद्रमा के एक अयन में $१३\frac{४४}{६७}$ दिन होते हैं।

गा. ७, ५०१— अभिजित नक्षत्र का विस्तार आख पर $\frac{६३०}{१०९८००}$ रेडियन का कोण आपतित करता है। शतभिषक आदि $\frac{१००५}{१०९८००}$ पुनर्वसु आदि $\frac{१००५ \times ३}{१०९८००}$, शेष $\frac{१००५ \times २}{१०९८००}$, रेडियन का कोण आपतित करते हैं। ये एक चंद्र के नक्षत्र हैं। इसी प्रकार से दूसरे चंद्र के भी नक्षत्र हैं।

गा. ७, ५१०— सूर्य, चंद्रमा की अपेक्षा, तीस मुहूर्तों या $\frac{३० \times ४८}{६०}$ घंटों में $\frac{६२}{६१} \times \frac{४८}{६०}$ घंटे अधिक शीघ्र गमन करता है। तथा, नक्षत्र सूर्य की अपेक्षा $\frac{३० \times ४८}{६०}$ घंटो में $\frac{५}{६१} \times \frac{४८}{६०}$ घंटे अधिक शीघ्र गमन करते हैं।

गा. ७, ५१५— इसके पश्चात् भिन्न २ नक्षत्रों में सूर्य या चंद्र कितने काल तक गमन करेंगे यह आपेक्षिक प्रवेग (relative velocity) के सिद्धात पर निकाला गया है। जैसे, अभिजित नक्षत्र के सम्बन्ध में (जिसका विस्तार ६३० गगनखंड है), सूर्य का आपेक्षिक प्रवेग अभिजित नक्षत्र को विश्रामस्थ मान लिया जाने पर १ दिन मे १५० गगनखंड है। इस प्रकार, सूर्य अभिजित नक्षत्र के साथ $\frac{६३०}{१५०}$ दिन या ४ अहोरात्र और ६ मुहूर्त अधिक अथवा $\frac{६३० \times ३० \times ४८}{१५० \times ६०}$ घंटे गमन करेगा।

गा. ७, ५२१— इसी प्रकार अभिजित नक्षत्र की अपेक्षा (इसे विश्रामस्थ मानकर) चन्द्रमा का आपेक्षिक प्रवेग १ मुहूर्त में ६७ गगनखंड है, क्योंकि इतने समय में चन्द्रमा नक्षत्रों से १ मुहूर्त मे ६७ गगनखंड पीछे रह जाता है। अभिजित नक्षत्र का विस्तार ६३० गगनखंड है, इसलिये इतने खड तय करने मे चन्द्रमा को $\frac{६३०}{६७} = ९\frac{२७}{६७}$ मुहूर्त लगेंगे। इतने समय तक चन्द्रमा अभिजित नक्षत्र के साथ गमन करेगा। यह समय $\frac{६३०}{६७} \times \frac{४८}{६०}$ घंटे है। इसे त्रिलोकसार में आसन्न मुहूर्त कहा गया है।

गा. ७, ५२५ आदि— सूर्य के एक अयन में १८३ दिन होते हैं। दक्षिण अयन (annual southward motion) पहिले और उत्तर अयन (northward annual motion) बाद में होता है। आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा के दिन अपराण्ह समय में पूर्ण युग की समाप्ति (५ वर्ष की समाप्ति) होने पर उत्तरायण समाप्त होता है। इस समय के पश्चात् नवीन युग प्रारम्भ होता है। पांच वर्ष में $१२ \times ५ = ६०$ दिन अथवा दो माह बढ़ते हैं, क्योंकि सूर्य के वर्ष के ३६६ दिन माने गये हैं। सूर्य की अपेक्षा से चन्द्रमा का परिभ्रमण $२९\frac{१}{२}$ दिनों में पूर्ण होता है। इसलिये चन्द्र वर्ष $२९\frac{१}{२} \times १२ = ३५४$ दिन का होता है। इस प्रकार एक चन्द्रवर्ष सूर्यवर्ष से १२ दिन छोटा होता है इसलिये एक युग या पांच वर्ष में चन्द्र वर्ष के युग की अपेक्षा ६० दिन या २ मास अधिक होते हैं। उत्तरायण की समाप्ति के पश्चात् दक्षिणायन श्रावण मास के कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन जब कि अभिजित नक्षत्र और चन्द्रमा का योग रहता है, प्रारम्भ होता है, वही नवीन पांच वर्षवाले युग का प्रारम्भ है।

जब सूर्य प्रथम आभ्यंतर बीथी पर होता है तब सूर्य का दक्षिण अयन का प्रारम्भ होता है। जब वह अंतिम बाह्य बीथी पर स्थित होता है तब उत्तरायण का प्रारम्भ होता है। जब एक अयन की समाप्ति होकर नवीन अयन का प्रारम्भ होता है उसे आवृत्ति (frequency or repetition) कहा गया है। अयन के पलटने को भी आवृत्ति कहते हैं। दक्षिणायन को आदि लेकर आवृत्तियाँ पहली, तीसरी, पांचवी, सातवीं और नवमी, पांच वर्ष के भीतर होंगी क्योकि पांच वर्ष में दस अयन होते हैं। इसी प्रकार उत्तरायण की आवृत्तियां इस युग में दूसरी, चौथी, छठवीं, आठवीं और दसवीं होती हैं। इस प्रकार दक्षिणायन की दूसरी आवृत्ति श्रावण मास के कृष्ण पक्ष त्रयोदशी को होती है जब कि चंद्रमा मृगशीर्षा नक्षत्र में तिष्ठता है। यह आवृत्ति १ चंद्र वर्ष के पश्चात् १२ दिन बीत जाने पर हुई। इसी प्रकार दक्षिणायन की तीसरी आवृत्ति श्रावण शुक्ल दशमी के दिन चंद्रमा जब विशाखा नक्षत्र में स्थित रहता है तब होती है। इस प्रकार श्रावण मास में दक्षिणायन की पांच आवृत्तियां ५ वर्ष के भीतर होती हैं। उत्तरायण की प्रथम आवृत्ति १८३ दिन बीत जाने पर अर्थात् माघ मास में कृष्णपक्ष की सप्तमी (चंद्र अर्द्ध वर्ष बीत जाने के ६ दिन पश्चात्) तिथि को जब कि चद्रमा हस्त नक्षत्र में स्थित रहता है, होती है। इसी प्रकार उत्तरायण की दूसरी आवृत्ति ३६६ दिन पश्चात् या चंद्र वर्ष के बीत जाने पर १२ दिन पश्चात् उसी माघ मास में शुक्ल पक्ष की चौथी तिथि पर जब कि चंद्रमा शतभिषक नक्षत्र में स्थित रहता है, तब होती है। इसी प्रकार अन्य आवृत्तियों का वर्णन है।

इसी आवृत्ति के आधार पर समान्तर श्रेढि बनने से (formation of an arithmetical progression) विषुप और आवृत्ति की तिथि निकालने के लिये तथा शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष का निश्चय करने के लिये सरल प्रक्रिया सूत्ररूप से दी गई है।

"विषुप", पूर्ण विश्व में दिन और रात्रि के अंतराल बराबर होने को कहते हैं। इस समय सूर्य आभ्यंतर और बाह्य बीथियों के बीचवाली बीथी में रहता है, अथवा विषुवत् रेखा, (भूमध्य रेखा) पर स्थित रहता है। दक्षिणायन के प्रारम्भ के चंद्र के चतुर्थांश वर्ष बीत जाने के ३ दिन पश्चात् सूर्य इस बीथी को ९१$\frac{१}{२}$ दिन पश्चात् प्राप्त होता है। इस समय कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की तृतीया रहती है और चंद्रमा रोहिणी नक्षत्र में स्थित रहता है। दूसरा विषुप इस समय के चंद्र अर्द्ध वर्ष के बीत जाने पर ६ दिन पश्चात् होता है। जब कि चंद्र वैसाख मास के कृष्ण पक्ष की नवमी को धनिष्ठा नक्षत्र में रहता है। इस प्रकार कुल विषुपों की संख्या उत्सर्पिणी काल में निकाली जा सकती है। दक्षिण अयन, पल्य का असंख्यातवां भाग या $\frac{प}{a}$ होता है। विषुप का प्रमाण इससे दूना है अर्थात् २$\frac{प}{a}$ जहां प पल्यका और a असंख्यात का प्रतीक है।

यहां अचर ज्योतिषियों का निरूपण किया गया है।

स्वयंभूवर द्वीप का विष्कम्भ $\frac{जगश्रेणी}{५६}$ + ३७५०० योजन है तथा समुद्र का विष्कम्भ $\frac{जगश्रेणी}{२८}$ + ७५००० योजन है। मानुषोत्तर पर्वत से आदि लिया गया है तथा ५०००० योजन समुद्र की बाहरी सीमा के इसी तरफ तक का अंतराल

$$\frac{जगश्रेणी}{२८} + (७५००० - ११५२५००० - ५००००) \text{ योजन}$$

$$\text{अथवा } \frac{जगश्रेणी}{२८} - ११५००००० \text{ योजन होता है।}$$

इसलिये, कुल वलयों की संख्या

$$\left[\frac{\text{जगश्रेणी}}{२८} - ११५०००००\right] \times \frac{२}{१०००००}$$

अथवा $\frac{\text{जगश्रेणी}}{१४०००००} - २३$ होती है।

पुष्करवर समुद्र के प्रथम वलय में २८८ चंद्र व सूर्य हैं। किसी द्वीप अथवा समुद्र के प्रथम वलय में स्थित चंद्र व सूर्य की संख्या $= \frac{\text{उस द्वीप या समुद्र का विष्कम्भ} \times ९}{१०००००}$ होती है। प्रत्येक द्वीप समुद्र का विस्तार उत्तरोत्तर द्विगुणित होता गया है और प्रारम्भ पुष्करवर द्वीप से होता है जहां विष्कम्भ १६००००० योजन है। इस प्रकार सूत्र बनाया गया है।

पृ. ७६४ आदि— सपरिवार चन्द्रों के लाने का विधान :—

अभी तक, जैसा मुझे प्रतीत हुआ है उसके अनुसार, वीरसेनाचार्य के कथन की पुष्टि का प्रतिपादन निम्न लिखित होगा।

पृष्ठ ६५८ पर गाथा ११ में ग्रंथकार ने सम्पूर्ण ज्योतिष देवों की राशि का प्रमाण; $\left(\frac{\text{जगश्रेणी}}{२५६ \text{ प्रमाणांगुल}}\right)^२$ बतलाया है।

पृष्ठ ७६७— ज्योतिष बिम्बों का प्रमाण $\frac{\text{जगप्रतर}}{६५५३६ \times १६५५३६१}$ अथवा $\left(\frac{\text{जगश्रेणी}}{२५६ \text{ प्रमाणांगुल}}\right)^२ \div \frac{१}{१६५५३६१}$ बतलाया है। तथा, इसमें प्रत्येक बिम्ब में रहनेवाले तत्प्रायोग्य संख्यात जीव (१६५५३६१) का गुणा करने पर सम्पूर्ण ज्योतिषी देवों, अथवा ज्योतिषी जीव राशि का प्रमाण प्राप्त होता है। स्मरण रहे कि जगश्रेणी का अर्थ, जगश्रेणी में स्थित प्रदेशों की गणात्मक संख्या है, तथा प्रमाणांगुल का अर्थ प्रमाणांगुलकुल्क मे प्रदेशों की गणात्मक संख्या है। इस न्यास के आधार पर वीरसेन ने सिद्ध किया है कि यद्यपि परिकर्मसूत्र में रज्जु के अर्द्धच्छेदों की संख्या, 'द्वीप-समुद्र की संख्या में रूपाधिक जम्बूद्वीप के अर्द्धच्छेदों के प्रमाण को मिला देने पर प्राप्त होती है, तथापि उस कथन का अर्थ उपयुक्त लेना चाहिये। यहां रूपाधिक का अर्थ अनेक से है, जहां अनेक, संख्यात, असंख्यात दोनों हो सकता है, एक नहीं। यह सिद्ध करने में, उनकी अद्वितीय प्रतिभा का चमत्कार प्रकट हो जाता है। आगमप्रणीत वचनों में उनकी प्रगाढ श्रद्धा थी, पर, उन वचनों की वास्तविक भावना को युक्तिबल से सिद्ध करने की प्रेरणा भी थी। इस प्रकार, परिकर्म के वचनों का यथार्थ अर्थ प्रकट करने के लिये, उन्होंने पूर्वाचार्यों के के कथनों को आगमानुसार, गणित की कसौटी पर पुनः कसा। स्पष्ट है, कि तिलोयपण्णत्ती के इस अवतरण में वीरसेन की शैली का प्रवेश हुआ है, पर यह सुनिश्चित प्रतीत होता है कि यतिवृषभ ने परिकर्मसूत्र से इस आगमप्रणीत ज्योतिष बिम्ब संख्या के प्रमाण का विरोध वीरसेन से पहिले निर्दिष्ट कर दिया था, और उनके पश्चात् वीरसेन ने उसका निरूपण कर, परिकर्मसूत्र का उपयुक्त अर्थ स्पष्ट किया। हम इसका निरूपण कुछ आधुनिक शैली पर करने का प्रयत्न करेंगे।

स्पष्ट है कि जम्बूद्वीप के विष्कम्भ १००००० योजन को इकाई लेकर यदि अन्य द्वीप-समुद्रों के विष्कम्भों को प्ररूपित करें तो वे क्रमशः लवणोदय के लिये २ इकाईयां, धातकी द्वीप के लिये ४ इकाईया, कालोदधि समुद्र के लिये ८ इकाईया, पुष्करवरद्वीप के लिये १६ इकाईया, इत्यादि होंगे।

यह बतलाया जा चुका है कि एक चन्द्र के परिवार मे एक सूर्य, ८८ ग्रह, २८ नक्षत्र तथा

६६९७५००००००००००००००० तारे होते हैं। जम्बूद्वीप में २ चंद्रमा, लवण समुद्र में ४ चंद्रमा, धातकीखंड में १२ चंद्रमा, कालोदक समुद्र में ४२ चंद्रमा, पुष्करवर अर्द्ध द्वीप में मानुषोत्तर पर्वत से इसी ओर ७२ चंद्रमा, तथा मानुषोत्तर से बाहर प्रथम पंक्ति में १४४ चंद्रमा अपने अपने परिवार सहित हैं। मानुषोत्तर से बाहर की प्रथम पंक्ति, द्वीप से ५०००० योजन आगे जाकर है जहां चंद्रों की संख्या १४४ है। उससे आगे एक एक लाख योजन आगे जाकर, उत्तरोत्तर सात पंक्तियां अथवा वलय हैं जहां के चंद्रों का प्रमाण इस आदि प्रमाण १४४ से ४ प्रचय को लेकर वृद्धि रूप है, अर्थात् वहां क्रमशः १४८, १५२, १५६,...... आदि चंद्रों की संख्या है। इसके आगे के समुद्र की भीतरी पंक्ति मे २८८ चद्र हैं। यहां भी, एक एक लाख योजन चल चलकर वलय स्थित हैं जहां चद्र बिम्बों का प्रमाण ४, ४ प्रचय लेकर वृद्धि रूप है। पुनः इस समुद्र के आगे जो द्वीप है वहां २८८×२ प्रमाण चंद्र बिम्ब प्रथम पंक्ति में हैं और १, १ लाख योजन चल चल कर उत्तरोत्तर स्थित ६४ पंक्तियों में ४, ४ प्रचय लेकर चंद्र बिम्बों का प्रमाण वृद्धि रूप अवस्थित है।

इस प्रकार प्रथम तीन द्वीपों (जम्बूद्वीप, धातकीखंड द्वीप और पुष्करवर द्वीप) तथा दो समुद्रों (लवण समुद्र और कालोदधि समुद्र) को छोड़कर, अगले समुद्र तथा द्वीपों मे स्थित चंद्रों के प्रमाण को निकालने के लिये न्यास दिया गया है।

तृतीय (पुष्करवर) समुद्र में वलयों या पंक्तियों की संख्या ३२ है, इसलिये यहां गच्छ (number of terms) ३२ है। प्रथम पंक्ति में २८८ चंद्र बिम्ब हैं, इसलिये २८८ गुण्यमान राशि (first term) है। ४ प्रचय (common difference) है।

चतुर्थ (वारुणीवर) द्वीप में वलयों की संख्या ६४ है, इसलिये गच्छ ६४ है। प्रथम पंक्ति में (२८८×२) = ५७६ चंद्र हैं, इसलिये गुण्यमान राशि ५७६ है। ४ प्रचय है।

इसी प्रकार पांचवें (वारुणीवर) समुद्र में गच्छ १२८, गुण्यमान राशि ११५२ है तथा ४ प्रचय है।

इस प्रकार, इन द्वीपो तथा समुद्रों में चंद्र बिम्बों का प्रमाण, हम समान्तर श्रेढि के संकलन के आधार पर सूत्र का प्रयोग करेंगे।

जहा गच्छ n है, गुण्यमान राशि (प्रथम पद) a है, तथा प्रचय d है, वहां,

$$\text{कुल धन} = \frac{n}{२}\left\{ २a + (n-१)d \right\} \text{ होता है।}$$

इसलिये, तृतीय समुद्र में, समस्त चंद्र बिम्बों का प्रमाण

$$= \frac{३२}{२}\left\{ २\times २८८ + (३२-१)\times ४ \right\}$$

$$= ३२\times २८८ + (३२-१)\times ६४ \text{ होता है।}$$

चतुर्थ (वारुणीवर) द्वीप में, समस्त चंद्र बिम्बों का प्रमाण

$$= \frac{६४}{२}\times\left\{ २^२\times २८८ + (६४-१)\times ४ \right\}$$

$$= ६४\times २\times २८८ + (६४-१)\times ६४\times २ \text{ होता है।}$$

पंचम (वारुणीवर) समुद्र में, समस्त चंद्र बिम्बों का प्रमाण

$$= \frac{१२८}{२}\times\left\{ २^३\times २८८ + (१२८-१)\times ४ \right\}$$

$$= ६४\times २^३\times २८८ + (१२८-१)\times ६४\times २^२ \text{ होता है।}$$

इत्यादि।

यदि कुल द्वीप-समुद्रों की संख्या n ली जावे तो पांच द्वीप छूट जाने के कारण, हमें केवल $n-५$ ऐसे होनेवाले प्रमाणों का योग, कुल चद्र बिम्बों का प्रमाण निकालने के लिये करना पड़ेगा। इस योग में

पुष्करवर आदि ५ छोड़े हुए द्वीप-समुद्रो के चंद्र बिम्बों का प्रमाण मिला देने पर समस्त चंद्र बिम्ब-संख्या का प्रमाण प्राप्त होगा।

इस प्रकार $(n-५)$ द्वीप-समुद्रो के चंद्र बिम्बों का प्रमाण निकालने के लिये हमें, उपर्युक्त $(n-५)$ उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त सख्याओं का योग प्राप्त करना पड़ेगा।

वह योग निम्न लिखित श्रेढि रूप में दर्शाया जा सकता है :—

$$६४\times२८८[\tfrac{१}{२}+२+२^{३}+२^{५}+\cdots\cdots(n-५) \text{ पदों तक}]$$
$$+(६४)^{२}[\tfrac{१}{२}+२+२^{३}+२^{५}+\ldots\ldots(n-५) \text{ पदों तक}]$$
$$-६४[१+२+२^{२}+२^{३}+\ldots\ldots(n-५) \text{ पदों तक}]$$

इसका प्रमाण, योगरूप में लाने के लिये हम गुणोत्तर श्रेढि के सकलन सूत्र का उपयोग करेंगे।

जहां a प्रथम पद हो, r साधारण निष्पत्ति (Common ratio) हो n गच्छ (Number of terms) हो वहा,

संकलित धन $=\dfrac{a(r^{n}-१)}{r-१}$ होता है।

इस तरह, कुल धन का प्रमाण यह है :—

$$६४\left[२८८\left\{\frac{\tfrac{१}{२}(४^{(n-५)}-१)}{४-१}\right\}-१\left\{\frac{१(२^{(n-५)}-१)}{२-१}\right\}+६४\left\{\frac{\tfrac{१}{२}(४^{(n-५)}-१)}{४-१}\right\}\right]$$

अथवा, यह है :—

$$६४[\tfrac{१७६}{३}.\{२^{(n-५)}\}^{२}-(२)^{(n-५)}-५७\tfrac{२}{३}]$$

कुल चद्र बिम्बों के परिवार सहित समस्त ज्योतिष बिम्बो की संख्या यह होगी :—

$$(६६९७५०००००००००००११७)[६४[\tfrac{१७६}{३}\{२^{(n-५)}\}^{२}-(२)^{(n-५)}-५७\tfrac{२}{३}]]$$
$$+[\text{शेष पाच द्वीप समुद्रों के चद्र बिम्बो का परिवार सहित सख्या प्रमाण}]$$
$$\cdots\cdots\cdots\cdots \text{I}$$

यहा ध्यान देने योग्य संख्या $(२^{(n-५)})^{२}$ अथवा $(२^{n-५})(२^{n-५})$ है।

हमे मालूम है, कि रज्जु के अर्द्धच्छेदों का प्रमाण प्राप्त करने के लिये निम्न लिखित सूत्र का आश्रय लेना पड़ता है :—

$$n+(१ \text{ या } s)+\log_{२}(\text{ज})=\log_{२}(\text{र})$$

जहा, n द्वीप-समुद्रों की सख्या है। s सख्यात संख्या है; ज, जम्बूद्वीप के विष्कम्भ में स्थित सलग्न प्रदेशों की संख्या है जो असंख्यात (मध्यम असंख्यातासंख्यात से कम) प्रमाण है; र, एक राजु प्रमाण अथवा जगश्रेणी के सातवें भाग प्रमाण सरल रेखा मे स्थित संलग्न प्रदेशों की संख्या है।

यह भी ज्ञात है कि जम्बूद्वीप के विष्कम्भ में

$१०००००\times६\times२\times२\times२\times२\times२०००\times४$ प्रमाणांगुल होते हैं। एक प्रमाणांगुल में ५०० उत्सेध अंगुल होते हैं तथा उस सूच्यंगुल में प्रदेशों की सख्या के अर्द्धच्छेद का प्रमाण $(\log_{२}\text{प})^{२}$ होता है जहा प, पल्योपम काल में स्थित समयों की सख्या है। यहां १ आवलि में जघन्य युक्त असख्यात समय बतलाये गये हैं। इसलिये प्रमाणागुल (५०० अ०) एक असख्यात प्रमाण राशि है जो उत्कृष्ट सख्यात के ऊपर हाने से श्रुतकेवली के विषय की सीमा का उलंघन कर जाती है।

जम्बूद्वीप के इस विष्कम्भ को हम अधिक से अधिक $२^{४०}$ प्रमाणांगुल भी ले लें तो

$n + (8 \text{ या } १) + \log_२ [२^{४०} \text{ प्रमाणागुल}] = \log_२ \text{र}$ होता है,

अथवा $n + (8 \text{ या } १) + ४० \text{ प्रमाणागुल} = \log_२ \text{र}$ होता है,

अथवा $n - ५ = (\log_२ \text{र} - ५ - (8 \text{ या } १) - ४० \text{ प्रमाणांगुल})$ होता है।

यदि हम 8 की जगह १ लें तो अधिक से अधिक

$n - ५ = \{ \log_२ \text{र} - \log_२ (२)^{४०} \text{ प्रमाणांगुल} \}$ होता है

अथवा $n - ५ = \left\{ \log_२ \frac{\text{र}}{२^{४०} \text{ प्रमाणांगुल}} \right\}$ होता है।

............II

इस प्रकार सर्व ज्योतिष बिम्बों की संख्या, II से I में (n – ५) का मान रखने पर

$$= (६६९७५०००००००००००११७)\left[६४ \left[\frac{१७६}{३} \left\{ \frac{\text{र}}{(२)^{४०} \text{ प्रमाणांगुल}} \right\}^२ - \frac{\text{र}}{(२)^{४०} \text{ प्रमाणागुल}} - ५७\frac{२}{३} \right] \right]$$

स्पष्ट है कि, $\frac{\text{र}}{(२)^{४०} \text{ प्रमाणांगुल}}$, तथा $५७\frac{२}{३}$, प्रथम पद की तुलना में नगण्य है।

इस प्रकार, प्रथम पद के हर में $(२५६)^२$ प्रमाणांगुल आने के लिये, २ की घात ८० से काम नहीं चल सकता; क्योंकि उसके गुणक

$\frac{१७६}{३} \times ६४ \times ६६९७५०००००००००००११७$ में अर्द्धच्छेदों की संख्या प्रायः ७७ या ७८ रहती है। इसलिये $(२५६)^२$ को उत्पन्न करने के लिये जहां १६ अर्द्धच्छेद अधिक होना चाहिये वहां ८०-७७ अथवा ३ अर्द्धच्छेद ही भागहार मे २ की घात में रहते हैं। यदि रज्जु को जगश्रेणी में बदलने के लिये ४९ का भाग भी देना हो तथापि ५ अर्द्धच्छेद और जुड़ेंगे और इस प्रकार १६ के स्थान में केवल ८ ही २ की घात भागहार में रहेगी। इसलिये, १ की जगह संख्यात लेना उपयुक्त है। साथ ही, जिन पदों को घटाना है, उनसे भागहार में वृद्धि ही होगी। प्रथम पांच द्वीप-समुद्रों के ज्योतिष बिम्बों का प्रमाण इस तुलना में नगण्य है।

परिशिष्ट (१)

Apj का प्रमाण श्रेढि के रूप में निम्न लिखित विधि से प्राप्त किया जा सकता है।

चतुर्थ अधिकार की गाथा ३०९ के पश्चात् के विवरण के अनुसार तीन अवस्थित कुंड (शलाका, प्रतिशलाका तथा महाशलाका) और एक अनवस्थित (unstable) कुंड एक से माप के स्थापित किये जाते हैं। मान लो प्रत्येक में 'क' बीज समाते हैं। इस अनवस्थाकुंड से एक-एक बीज निकालकर क्रम से द्वीप-समुद्रों को देते जाने पर क वें द्वीप अथवा समुद्र में अन्तिम बीज गिरेगा। इस द्वीप अथवा समुद्र का व्यास गुणोत्तर श्रेढि के पद को निकालने की विधि के अनुसार $२^{(\text{क} - १)}$ लाख योजन होगा। यह क्रिया समाप्त होते ही रिक्त शलाकाकुंड में एक बीज डाल देते हैं। यहां सर्वप्रथम बीज शलाकाकुंड में गिराया जाता है। अब इस व्यासवाले अनवस्थाकुंड में $\left\{ \text{क} \times २^{(२\text{क} - २)} \right\}$ बीज समावेंगे। इस परिमाण को $\text{क}_१$ द्वारा प्ररूपित करेंगे।

इन $\text{क}_१$ बीजों को अब अगले द्वीप-समुद्रों में एक-एक छोड़ने पर अंतिम बीज $(\text{क} + \text{क}_१)$ वें द्वीप अथवा समुद्र में गिरेगा। इस द्वीप अथवा समुद्र का व्यास $२^{(\text{क} + \text{क}_१ - १)}$ लाख योजन होगा। इस क्रिया के समाप्त होते ही शलाकाकुंड में पुनः एक बीज डाल देते हैं। इतने व्यासवाले अनवस्थाकुंड में $\left\{ \text{क} \times २^{(२\text{क} + २\text{क}_१ - २)} \right\}$ बीज समावेंगे। इस परिमाण को $\text{क}_२$ द्वारा प्ररूपित करेंगे।

इन $क_2$ बीजों को अब आगे के द्वीप-समुद्रों में एक-एक छोडने पर अंतिम बीज $(क+क_1+क_2)$ वें द्वीप अथवा समुद्र में गिरेगा। इस द्वीप अथवा समुद्र का व्यास $2^{(क+क_1+क_2-1)}$ लाख योजन होगा। इस क्रिया के समाप्त होते ही शलाकाकुंड में पुनः एक बीज डाल देते हैं। इतने व्यासवाले अनवस्थाकुंड में $\left\{क\times2^{(2क+2क_1+2क_2-2)}\right\}$ बीज समावेंगे। इस प्रमाण को $क_3$ द्वारा प्ररूपित करेंगे।

इस प्रकार यह विधि तब तक संतत रखी जावेगी जब तक कि शलाकाकुंड न भर जावे, अर्थात् यह विधि क बार की जावेगी। स्पष्ट है कि इस क्रिया के अंत में अंतिम बीज
$क+क_1+क_2+क_3+\ldots\ldots\ldots+क_{क-1}$ वें द्वीप अथवा समुद्र में गिरेगा।

इस द्वीप अथवा समुद्र का व्यास $2^{(क+क_1+\ldots\ldots\ldots+क_{क-1}-1)}$ लाख योजन होगा। इस व्यासवाले अनवस्थाकुंड में $\left\{क\times2^{(2क+2क_1+\ldots\ldots\ldots+2क_{क-1}-2)}\right\}$ बीज समावेंगे। इसका प्रमाण $क_क$ से निर्दिष्ट करेंगे।

स्मरण रहे, कि यहा शलाकाकुंड भर चुका है और प्रतिशलाकाकुंड में अब १ बीज डाला जावेगा। इतने व्यास के इस अनवस्थाकुंड को लेकर पुनः एक शलाकाकुंड भरा जावेगा और उस क्रिया को क बार कर लेने पर प्रतिशलाकाकुंड में पुनः १ बीज डाला जावेगा। स्पष्ट है कि 'क' 'क' बार यह क्रिया पुनः पुनः कितने बार की जावेगी? 'क' बार की जावेगी, तभी प्रतिशलाकाकुंड भरेगा। इस क्रिया के अंत में अंतिम बीज $क+क_1+क_2+\ldots\ldots+क_क+\ldots\ldots+क_{2क}+\ldots\ldots क_{क^2-1}$ वें द्वीप अथवा समुद्र में गिरेगा। इस द्वीप या समुद्र का व्यास निकाला जा सकता है, तथा इस व्यास के अनवस्था-कुंड में समाये गये बीजों की संख्या भी निकाली जा सकती है।

यहा प्रतिशलाकाकुंड पूर्ण भर चुका है और १ बीज महाशलाकाकुंड मे इस क्रिया की एक बार समाप्ति दर्शाने हेतु डाल दिया जाता है। उक्त प्रतिशलाकाकुंड को भरने के लिये जो क्रिया $क^2$ बार की गई है उसे पुनः पुनः अर्थात् क बार करने पर ही महाशलाकाकुंड भरा जावेगा। स्पष्ट है कि महाशलाका-कुंड भरने पर इस महा क्रिया में अंतिम बीज
$क+क_1+क_2+\ldots\ldots+क_क+\ldots\ldots+क_{क2}+\ldots\ldots+क_{2क^2}+\ldots\ldots+क_{क^3-1}$ वें द्वीप या समुद्र में गिरेगा। इस द्वीप या समुद्र का व्यास $2^{(क+क_1+\ldots\ldots+क_{क^3-1}-1)}$ लाख योजन होगा।

इतने व्यासवाले अनवस्थाकुंड में $\left\{क\times2^{(2क+2क_1+\ldots\ldots+2क_{क^3-1}-2)}\right\}$
बीज समावेंगे जिसे हम $क_{क^3}$ द्वारा प्ररूपित कर सकते हैं। यही प्रमाण Apj है जो Su से मात्र एक अधिक है। यहां यतिवृषभ का सकेत है कि यह चौदह पूर्व के ज्ञाता श्रुतकेवली का विषय है। अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे जिनके समीप से मुकुटधारियों में अंतिम 'चंद्रगुप्त' दीक्षा लेकर सम्भवतः दक्षिण की ओर चल पड़े थे।

परिशिष्ट (२)

तिलोयपण्णत्ती, ४,३१० (पृ. १८०-८२) के प्रकरण को और भी स्पष्ट करना यहां आवश्यक है। यतिवृषभ ने यहां संकेत किया है कि जहां जहां असंख्यात का अधिकार हो वहां वहां Ayj ग्रहण करना चाहिए। यहा सदेह होता है कि क्या लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों का भी यही प्रमाण माना जाय?

इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जहां पल्योपम, अवलि आदि की गणना का सम्बन्ध है वहां Ayj का ग्रहण करना चाहिए तथा इस सम्बन्ध में तो लोकाकाश के प्रदेशों की सख्या गणना की अपेक्षा से वास्तव में संख्या के अतीत होने से जो भी उसका प्रमाण है उसे उपधारणा (postulation) के आधार पर मात्र असख्यात से अलंकृत कर देना ही उचित समझा गया है, जहां Ayj का ग्रहण करना वांछनीय नहीं है। यह तथ्य तब और भी स्पष्ट हो जाता है, जब कि हम देखते हैं कि

{ log }

अं = प

इस समीकार का निर्वचन हम पहिले ही दे चुके हैं। अं सूच्यंगुल में स्थित प्रदेशों की गणात्मक संख्या का प्रतीक है और प पल्योपमकाल राशि में स्थित समयों (The now of zeno) की गणात्मक संख्या का प्रतीक है। पल्योपमकाल में स्थित समयों की संख्या का प्रमाण* देखते हुए हमें जब सूच्यंगुल में स्थित प्रदेशों की संख्या का आभास मिलता है तो यह निश्चय हो जाता है कि लोकाकाश के प्रदेशों की सख्या, गणना की अपेक्षा अतीत है। केवल काल की गणना में असंख्यात शब्द के लिये Ayj का ग्रहण हुआ प्रतीत होता है। इस प्रकार आवलि में असंख्यात समय का अर्थ Ayj समय हुआ। जहां उद्धार पल्य को असंख्यात कोटि वर्षों की समयसख्या से गुणित करने का प्रकरण है वहां भी इस असख्यात को Ayj के रूप में ग्रहण करने पर हमारा यह विभ्रम दूर हो जाता है कि अं न मालूम क्या है। दूसरी जगह आये हुए असख्यात शब्द Ayj के लिये प्रयुक्त नहीं हुए हैं इसी कारण यहां अधिकार शब्द का प्रयोग हुआ है।

संख्याधारा में Apj का प्रमाण सुनिश्चित है इसलिये Apj का Apj में Apj बार गुणन होने पर जो Ayj की प्राप्ति हुई है, वह भी सुनिश्चित अचल संख्या प्रमाण है।

जिस पल्योपम के आधार पर सूच्यंगुल प्रदेश राशि की सख्या का प्रमाण बतलाया गया है उस समयराशि (अद्धापल्य काल राशि) में स्थित समयों की संख्या का प्रमाण

= {Apj (कोटि वर्ष समय राशि)}^{२} × (दसाहीं पद्धति में लिखित ४७ अंक प्रमाण समय राशि)

= (Apj)^{२}(दसाहीं पद्धति में लिखित ६१ अंक प्रमाण) {१ वर्ष समय राशि प्रमाण}^{3}

= (Apj)^{२}(दसाहीं पद्धति में लिखित ६१ अंक प्रमाण सख्या){(२)^{५}(१५)^{२}(३८½)^{२}(७)^{२}. Sm}^{3}

यहां Sm एक चल (variable) क्रमबद्ध, प्राकृत सख्या युक्त राशि है जिसके अवयव Su तथा Sj की मध्यवर्ती प्राकृत सख्याओं के पद ग्रहण करते हैं। यहां Sm का निश्चित प्रमाण ज्ञात नहीं है पर विज्ञान के इस युग मे उसकी नितान्त आवश्यकता है। सम्भवत: Sj और Su के बीच का यह प्रमाण निश्चित करने में मूलभूत कणों के गमन विज्ञान मे दक्ष भौतिकशास्त्री कुछ लाभ ले सकें। Sm को इसी रूप में रख उन आचार्यों ने क्या सहज भाव को अपनाया है अथवा आंकिकी पर आधारित सम्भावना (probability) को व्यक्त किया है ? हम अभी नहीं कह सकते।

*षट्खंडागम, पु. ३, प्रस्तावना पृ० ३४, ३५.

महाकोशल महाविद्यालय
जबलपुर

लक्ष्मीचन्द जैन
एम्. एस्सी.

शब्द-सूची

गणित लेख का शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	भूल	सुधार
२	नीचे से १२	~	∽
	नीचे से १०	,,	,,
	नीचे से ८	,,	,,
३	ऊपर से १५	$(\text{अ्रं})=\text{प}\log_2(\text{अ्र})$	$(\text{अ्रं})=\text{प}\log_2(\text{प})$
६	ऊपर से ४	intervol	interval
७	ऊपर से १८	mathemetical	mathematical
९	ऊपर से ८	पुनः	—
११	नीचे से ९	की	के
	नीचे से ८	थ	थी
	नीचे से ५	^-	-^-
१५	ऊपर से ३	$\frac{\text{व्या२}-\text{व्या१}}{२^२}$	$\frac{\text{व्या}_२-\text{व्या}_१}{२^२}$
१८	नीचे से ६	है²	है
१८	नीचे से १	अनन्तानन्त परमाणु	अनन्तानन्त परमाणु
२१	नीचे से ३	Egyptions	Egyptians
४०	नीचे से १	eta.'	eta."
६२	नीचे से १०	No	$\aleph_0$
	नीचे से १२	२No > No	$२^{\aleph_0} > \aleph_0$
८८	ऊपर से ७	minuts	minutes
	ऊपर से ८	,,	,,
९७	नीचे से ९	motien	motion
१०३	नीचे से ११	$\text{क}_{\text{क्र२}}$	$\text{क}_{\text{क्र}}^{२}$
१०४	ऊपर से ६	अ्र=२{log}	$\text{अ्र}=२\{\log_2 २\}$
	ऊपर से ८	zeno	Zeno
	नीचे से ६	गक्ति	गति